त्रिशंकु :

[संघर्ष-युग में साहित्य]

लेखक :

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

भूमिका

आलोचना में 'नया' कम होता है ; जितनी कुछ मौलिकता उसमें हो सकती है, इस पुस्तक के निबन्धों में उतनी भी नहीं है। कई वर्षों के अध्ययन का—जो पहले साध्य होकर भी सुलभ था, और अब साधन होकर भी क्रमशः दुर्लभ होता जाता है—सहारा लेकर साहित्य के बारे में जो कुछ धारणाएँ बना पाया हूँ, और उनके सहारे आधुनिक हिन्दी साहित्य को जैसा समझा हूँ, वही बताने का प्रयत्न इन लेखों में किया गया है।

इतना होते हुए भी, मुझे आशा है, ये निबन्ध आधुनिक हिन्दी लेखक, पाठक और आलोचक के काम के सिद्ध होंगे। और नहीं तो इसी लिए कि इनमें प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हिन्दी में प्रायः नहीं किया गया है, और न उनके सहारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का कोई प्रयत्न हुआ है। हिन्दी में आलोचना क्रमशः उन्नति कर रही है, पर आलोचना के नाम से निरे 'उच्छ्‌वास' से बढ़कर भी हम अभी प्रायः व्याख्यात्मक आलोचना तक ही आते हैं, मूल्यांकन के प्रयत्न हमारी आलोचना में नहीं के बराबर होते हैं।

'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक निबन्ध पहले जबलपुर के 'हितकारिणी सभा हाई स्कूल' के वार्षिकोत्सव के लिए अभिभाषण के रूप में लिखा गया था। 'रूढ़ि और मौलिकता' टी० एस० इलियट के एक लेख का लगभग भावानुवाद है। 'परिस्थिति और साहित्यकार' का मूल रूप 'मेरठ साहित्य परिषद्' में पढ़ा गया था और उसकी कार्यवाही में प्रकाशित हो रहा है। 'संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' के अन्तर्गत 'साहित्य किसके लिए ?', 'राजनीति और साहित्य' तथा 'साहित्य और प्रगति' वाले अंश पहले अलग-अलग पत्रों में छप चुके हैं।

अन्त में आभार-प्रदर्शन के नाम पर उनको, जिन्हें यह पुस्तक समर्पित की गई है, एक बार पुनः प्रणाम कर लेता हूँ।

—लेखक

प्रकाशन के पूर्व दूसरी भूमिका

इस पुस्तक की पहली भूमिका लगभग चार वर्ष पहले लिखी गई थी। उस समय पुस्तक की पाण्डुलिपि 'अभिनव भारती ग्रन्थ-माला' के लिए भेजी गई थी। कारणवश वहाँ प्रकाशन में इतनी देर हुई कि युद्ध ने परिस्थिति ही बदल दी; फलतः काग़ज़ के दुर्लभ हो जाने के कारण पाण्डुलिपि डेढ़ साल बाद लौट आई। कुछ महीने लेखक के पास पड़ी रहने के बाद वह दुबारा साहित्य प्रेस, आगरा को भेजी गई; किन्तु और कुछ महीनों बाद पहले फ़ार्म का प्रूफ तैयार होते-न-होते प्रेस में ताला डाल दिया गया। फिर कई महीनों की लिखा-पढ़ी के बाद डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट से पाण्डुलिपि सेंसर के बाद वापस पाई गई। कुछ अंश खो जाने के कारण वह फिर कुछ मास विश्राम करती रही, अब तीसरी बार प्रेस में जा रही है। अब भी प्रकाशन कब होगा, या होगा भी कि नहीं; नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार, प्रकाशन हो न हो, पुस्तक ने अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित कर ही दी है। असाध्य आशावादी की भाँति मैं सान्त्वना के लिए इसे भी बहुत समझता हूँ; यद्यपि इतने वर्ष बीत जाने के कारण निबंध पुराने पड़ गये जान पड़ते हैं और उनकी प्रकाशनीयता में मेरी आस्था कम हो गई है। फिर भी इतने विलम्ब से अवसर पाकर पुस्तक में डेढ़ निबन्ध मैंने और जोड़ दिया है, और सोचता हूँ कि इस प्रकार यह विलम्ब सर्वथा निष्फल नहीं रहेगा।

और मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अभी 'त्रिशंकु' छपे या न छपे, युद्धोत्तर-कालीन साहित्य अथवा साहित्यिक समस्याओं पर जो कुछ लिखूँगा (यदि लिखूँगा तो), वह इसमें नहीं जोड़ूँगा, चाहे उससे 'प्रकाशन के पूर्व तीसरी भूमिका' लिखने के विशिष्ट गौरव का सुयोग ही क्यों न मिलता हो! विश्वामित्र अपने उद्योगों से ऊबे थे या नहीं, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है; पर आधुनिक लेखक यदि धैर्य में ऋषियों से कम उतरे तो क्षम्य है। अब मेरी ओर से 'त्रिशंकु' युग-युगान्तर तक अधर में टँगा रह सकता है!

—लेखक

फ्रेडरिक विलियम हेण्डरसन,

जेम्स मार्टिन बनेड,

दो विदेशीय अध्यापकों को ;

हजारीप्रसाद द्विवेदी,

वत्सराज भणोत,

दो स्वदेशीय सहयोगियों को ।

सूची

संस्कृति और परिस्थिति

यदि आप आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से तनिक-सा भी परिचय रखते हैं, तब आपने अनेकों बार पढ़ा या सुना होगा कि हिन्दी आश्चर्यजनक उन्नति कर रही है, कि उसने भारत की अन्य सभी भाषाओं को पछाड़ दिया है, कि हिन्दी साहित्य—कम से कम उसके कुछ अंग—संसार के साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। जबसे साहित्य की समस्या भाषा—अर्थात् 'राष्ट्रभाषा'—के विवाद के साथ उलझ गई है, तब से इस ढंग की गर्वोक्तियां विशेषरूप से सुनी जाने लगी हैं। निस्सन्देह ऐसे 'रोने दार्शनिक' भी हैं जो प्रत्येक नई बात में हिन्दी का ह्रास ही देखते हैं—और राष्ट्रभाषा की चर्चा चलने के समय से तो ऐसे समय-असमय खतरे की घण्टी बजाने वालों की संख्या अनगिनत हो गई है—लेकिन इन गर्वोक्तियों से आप सभी परिचित होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

क्या आपने कभी इनकी पड़ताल करने का यत्न या विचार किया है? क्या ये पूर्णतया सच्ची हैं? यदि इनमें आंशिक सत्य है तो कितना, और क्या? यदि हमारी प्रगति विशेष लीकों में पड़ रही है तो किनमें और कैसे?

इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न मैं नहीं करूँगा। मैं न तो सस्ते आशावाद से और न चोट पड़ते ही चें-चें करनेवाले निराशावाद से ही आपको सन्तोष दिलाना चाहता हूँ। इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक को अपने ढंग से खोजना चाहिए, मैं केवल उस खोज के प्रति वैज्ञानिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग रखने पर ज़ोर देना चाहता हूँ। और इसीलिए साहित्य के प्रश्न को साहित्य के या साहित्यालोचन के संकुचित घेरे से निकालकर मैं उसे एक सांस्कृतिक विभूति के रूप में दिखाना चाहता हूँ। यह रूप उसे कैसे प्राप्त होता है, यह जानने के लिए आपको समाज के संगठन की ओर ध्यान देना होगा।

साहित्य—साहित्य की शिक्षा—अन्ततोगत्वा एक स्थानापन्न महत्व रखती है। पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गई है—हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गई हैं और निकलती जा रही हैं, और उनके साथ ही निकलती जा रही है वह चीज़ जिसके ये केवल एक चिन्हमात्र हैं—जीवन की कला, जीने का एक व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी—ऐसी ऋतुचर्या, जिसकी बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो। बात केवल

इतनी नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रहकर शहरी हो गया है। जीवन का ढंग ही नहीं बदला, जीवन ही बदला है। अब समाज न देहाती रहा है न शहरी, अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है। उसे ऐक्य में बाँधनेवाला कोई सूत्र नहीं है; जो जहाँ सुविधा पाता है वहाँ रहता है, अपने पड़ोसियों से उसका कोई जीवित सम्बन्ध, धमनियों के प्रवाह का सम्बन्ध नहीं रहता ; सम्बन्ध रहता है भौगोलिक समीपता का, बिजली, पानी, मोटर-ट्राम की मारफत।

निस्सन्देह पुराने संगठन के अवशेष भारत में अनेक स्थलों पर मिलेंगे, जहाँ अभी मोटरलारी, सिनेमा और रेडियो नहीं पहुँचे हैं। इन स्थलों में जीवन अब भी एक कला है। लेकिन ये बहुत देर तक नहीं रहेंगे। यन्त्रयुग की प्रगति का निर्मम हल पुरानी मिट्टी उपाटता हुआ चला जा रहा है।

यदि आपको इस बात में कुछ अत्युक्ति जान पड़ती हो, तो अपने देखे हुए किसी मिल इलाक़े को याद कीजिए। यदि आपने उसे बनते हुए देखा है—लापरवाही और अवज्ञा से खड़े किये गये उन कुरूप स्तूपों को, मानवजाति के और आसपास के प्रदेश के प्रति घोर उपेक्षा से मुँह बाये हुए ; यदि आपने कलकत्ते के 'गार्डन रीच' या बम्बई के 'वरली चाल्स' जैसे दृश्य देखे हैं, तब आप समझ सकेंगे कि यह विनीशक-क्रिया, मानव जीवन की स्वाभाविकता का यह ध्वंस, समाज-संगठन के ह्रास का ही बाह्य लक्षण है। इसी क्रिया को इग्लैण्ड में देखकर वहाँ का दिव्य कलाकार डी० एच० लारेंस फूट उठा था—

"The car ploughed uphill through the long squalid straggle of Tevershall, the blackened brick dwellings, the black slate roofs glistening their sharp edges, the mud black with coal-dust, the pavements wet and black. It was as if dismalness had soaked through and through everything. The utter negation of the gladness of life, the utter absence of the instinct for shapely beauty which every bird and beast has, the utter death of the human intuitive faculty was appalling. The stacks of soap in the grocer's shops, the rhubarb and lemons in the green grocer's! the awful hats in the milliner's! all went by ugly, ugly, ugly, followed by the plaster and gilt horror of the cinema with its wet picture announcements. 'A Woman's Love', and the new big Primitive chapel, primitive enough in its stark brick and big panes of greenish and raspberry glass in the windows...

'England, my England!' But which is my England? The stately homes of England make good photographs and create the illusion of a connection with the Elizabethans. The handsome old halls

are there, from the days of good Queen Anne and Tom Jones. But smuts fall and blacken the drab stucco, that has long ceased to be golden. And one by one, like the stately homes, they are abandoned. Now they are being pulled down. As for the cottages of England —there they are—great plasterings of brick dwellings on the hopeless countryside...

This is history. One England blots out another. The mines had made the halls wealthy, now they were blotting them out, as they had already blotted out the cottages. The industrial England blots out the agricultural England. One meaning blots out another. The new England blots out the old England. And the continuity is not organic but mechanical."

इस स्थापना से कोई निस्तार नहीं है कि पुरानी संस्कृति मर रही है, और संस्कृति का प्रश्न हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि पुरानी व्यवस्था के टूटने का कारण मशीन है। लेकिन मशीन-युग का जीवन ठीक क्या परिवर्तन लाता है, यह समझकर ही संस्कृति पर उसका प्रभाव समझ में आएगा। इसके लिए क्षण-भर आधुनिक मिल मजदूर और पुराने दस्तकार की तुलना कीजिए। आज के मजदूर के लिए यह सम्भव है कि तीस या चालीस या पचास साल तक एक अकेली क्रिया को दुहराने मात्र के सहारे वह उतने समय तक अपने परिवार का पेट पाल सके! मसलन् नित्यप्रति आठ घण्टे तक सेफ्टी उस्तरे के ब्लेड को मोम में डुबोकर पैक करने के लिए रखते जाना—बिल्कुल सम्भव है कि पाँच-छः प्राणियों के कुनबे को पालनेवाला व्यक्ति आयु भर यही एक क्रिया करता रहा हो! इसका मिलान कीजिये पुराने लुहार से—अपने वर्ग का कितना अनुभव-संचित ज्ञान, कितनी लम्बी परम्परा उसकी मेहनत को अनुप्राणित करती थी! वह सब अब नहीं रहा, आज के श्रमिक के लिए जीवन का अर्थ है एक निरर्थक यान्त्रिक क्रिया की बुद्धिहीन अनवरत आवृत्ति! पुराना दस्तकार निरक्षर होकर भी शिक्षित और संस्कृत भी होता था; आज का मजदूर जासूसी किस्से और सिनेमा पत्र पढ़कर भी घोर अशिक्षित है। उसकी जीवन की शिक्षा एक अकेली अर्थहीन यान्त्रिक क्रिया तक सीमित है।

अब आप समझ सकते हैं कि कैसे यन्त्रयुग जीवन में वह परिवर्तन लाता है जो वास्तव में जीवन का प्रतिरोध है। हम लोगों में से जो यन्त्रयुग की बुराइयों पर ध्यान देते हैं वे प्रायः उसे एक आर्थिक संकट के रूप में देखते हैं—बेकारी की समस्या के रूप में। लेकिन प्रश्न आर्थिक से बढ़कर सांस्कृतिक है। मशीन से केवल रोज़गार नहीं मारा जाता, मशीन से मानव का एक अंग मर जाता है, उसकी संस्कृति नष्ट

होती है और उसका स्थान लेनेवाली कोई चीज नहीं मिलती। मशीन-युग के मानव का जीवन दो अवस्थाओं में बँट जाता है—एक जिसमें मेहनत है पर जीवन स्थगित है; दूसरा जिसमें जीवन को पाने की उत्कट प्यास है। वास्तविक अवकाश को शान्ति की अवस्थाएँ दोनों ही नहीं हैं; फिर भी ऐसे विभाजन से वह समस्या पैदा हो गई है जिसे the problem of leisure कहा जाता है। यह समस्या यन्त्रयुग की देन है।

यह नहीं है कि पुराने जमाने में अवकाश नहीं होता था। निस्सन्देह तब भी किसान लोग 'सुस्ताने' बैठते थे। दो एक हाथ चिलम या ताड़ी पीने में, और गप-शप या गाली-गलौज करने में समय बिताते थे; लेकिन यह सुस्ताना जैसे जीवन का एक उपांग, (by-product) था, उसका ध्येय और अन्त नहीं। उनके लिए 'फ़ुरसत' का वक्त केवल काम के लिए ताजा होने का साधन था क्योंकि उस समय उनका रोज़गार ऐसा था कि यद्यपि उससे उनकी तर्क या कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता था, तथापि उसमें हाथ की सफ़ाई और विशेष ज्ञान का प्रयोग करने के लिए काफी गुन्जाइश होती थी और उससे तोष प्राप्त होता था। उसके बाद फ़ुर्सत नहीं, विश्राम चाहते थे। 'फ़ुरसत' का मूल्य कम था, इसका एक प्रमाण यह भी है कि वे प्रायः दिन छिपते ही सो जाते थे। विश्राम के बाद अपने काम के प्रति उनमें स्वागत भाव हो सकता था। किन्तु आज परिस्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। आज के श्रमिक के लिए रोज़गार एक पदार्थ है जिसके दाम लगते हैं, बस। उसमें उसकी किसी तरह की भी रुचि नहीं है, उसके लिए वही साधन है। (पैसा पाने का) और ध्येय है फ़ुरसत। इस प्रकार जीविका का फल, उसका अर्थ, उतनी देर के लिए स्थगित कर दिया जाता है जितनी देर वह जीविका कमाई जाती है—जीना और जीविका कमाना साथ-साथ नहीं चलते, परस्पर विरोधी होकर चलते हैं। काम का समय पूरा होने पर घण्टा बजने पर ही उसे अपने को मानव समझने का अधिकार मिलता है और वह जीने का यत्न कर सकता है। उसे 'फ़ुरसत' मिलती है; वह अपने को खाली पाता है और एकाएक किसी वस्तु के लिए तड़प उठता है जिससे वह खलिश मिट जाय, वह अपने को 'तृप्त' मान सके, स्थगित जीवन से होनेवाली क्षति पूर सके।

यह स्पष्ट है कि ऐसे समय का उपयोग ही किसी व्यक्ति की संस्कृति की कसौटी है। हमारा आजकल का श्रमजीवी इस फ़ुर्सत के समय क्या करेगा? ऊपरी दृष्टि से देखा जाय, तो उसके पास अनेकों उपाय हैं। लेकिन जिस मशीन ने फ़ुरसत पैदा की है, उसी ने उसके उपयोग भी विशेष लीकों में डाल दिए हैं। इस क्रिया की भी हम कभी जाँच करेंगे।

ऊपर कहा गया कि आधुनिक जीवन दो क्रियाओं में बँट जाता है—श्रम, जो अततः यांत्रिक और तोष-शून्य है; तथा अवकाश जो मूलतः श्रम की अवस्था की

क्षतिपूर्त्ति है, स्थगित जीवन की थकान से भागना, या कम से कम मनोरंजन है। अतः आधुनिक जीवन में संस्कृति के, और उसके प्रमुख अंग, बल्कि केन्द्र साहित्य के, लिए कोई स्थान है तो दूसरी अवस्था में ही है। आज साहित्य का यही मुख्य उपयोग है—और मेरी समझ में यही उसके लिए सबसे बड़ा खतरा।

फुरसत का उपयोग साधारणतया मनोरंजन के लिए होता है—मनोरंजन भी एक विशेष प्रकार का—जो अपनी परिस्थिति को भूलने में सहायक हो—अर्थात् एक तरह का नशा हो। देखिए, इस बारे में आधुनिकता का एक पुजारी 'मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ' में क्या कहता है—बिना अपने कथन का भीषण अभिप्राय समझे!—

"लोग, विशेषतया स्त्रियाँ, गल्पसाहित्य में प्रकारान्तर से उन मानवीय अनुभूतियों को तृप्ति खोजती हैं जो आज के उलझे हुए और संकीर्ण जीवन में पूरी नहीं हो पातीं। अपने तंग, भीड़-भरे और हड़बड़ाए जीवन में अधिक गहरी अनुभूति के स्पन्दन और खिचाव को प्राप्त करने का समय और अवसर न पाकर वे अपनी स्वाभाविक वासना की तृप्ति के लिए गल्पसाहित्य की ओर झुकते हैं...सभ्यता से बँधे हुए लोग वासनाओं की तृप्ति के लिए गल्पसाहित्य की ओर झुकते हैं...इसी लिए लोग सुखान्त कहानी पसन्द करते हैं। जीवन में अपने परिश्रम में सफलता का सन्तोष न पाकर, हताश लोग गल्पसाहित्य में सान्त्वना खोजते हैं; उपन्यास के नायक-नायिका की परिस्थिति में अपने को डालकर वे एक अल्पकालिक और भ्रामक तृप्ति पाते हैं।"

अर्थात् वे जीवन की कमी उसकी छाया से पूरी करते हैं। लेकिन जिन लोगों के जीवन में अनुभूति की गहराई और विशालता और सूक्ष्मता के लिए स्थान नहीं है, उनका यह छाया-जीवन भी कच्चा और छिछला ही हो सकता है। जिस व्यक्ति का काम उसके व्यक्तित्व को पुष्ट नहीं करता, वह छाया-जीवन से जो तृप्ति प्राप्त करेगा, उसका उसके जीवन की यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं होगा—क्योंकि यथार्थता से तृप्ति न मिल सकने के कारण ही तो वह उससे भागता है। और फिर, ऐसा व्यक्ति वह परिश्रम करने को भी तय्यार नहीं होगा जो मनोरंजन के लिए ज़रूरी है—अतः उसकी क्षतिपूर्ति नशे का रूप ले सकती है।

एक तरह की 'क्षतिपूर्ति' मनोरंजन कदापि नहीं है, क्योंकि यह पुष्ट और सञ्जीवित नहीं करती, बल्कि उसे यथार्थता से छूट भागने का आदी बनाकर और भी कमज़ोर और जीवन के लिए अयोग्य बनाती है। इस प्रकार व्यक्ति एक अन्धेरे चक्कर में पड़ जाता है जिससे उसका निस्तार नहीं।

आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं के, सिनेमा-थियेटरों के, अखबारों, रेडियो और ग्रामोफ़ोन के बारे में भी यही बात सच है। अप्राकृतिक मनोरंजन—अर्थात् जीवन से पलायन—

के ये सब साधन मिलकर जीवन को सस्ता बना रहे हैं—उसका अर्थ और महत्व नष्ट कर रहे हैं। इनका प्रयत्न यही है कि 'मनोरंजन' के लिए ज़रा भी प्रयास—मन को एकाग्र करने का भी प्रयास—न करना पड़े। आधुनिकता की प्रगति यह है कि सस्ती, ऊपरी और तात्कालिक ('सामयिक') रुचि की बातों को छोड़कर अन्य सभी को निरुत्साहित किया जाय, सस्ती और ऊपरी मानसिक प्रवृत्तियों के लिए खाद्य दिया जाय। आपने लक्ष्य किया होगा कि इधर हिन्दी के एकाधिक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं ने जानते बूझते हुए अपना 'स्टैण्डर्ड' नीचा किया है—ताकि उसका आकर्षण अधिक सार्वजनिक हो सके। यह परिवर्त्तन आकस्मिक भी हो सकता था, लेकिन मैं जानता हूँ कि ऐसा चेष्टापूर्वक किया गया है, क्योंकि "आधुनिक पत्र का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए—आज का युग masses का युग है और उसमें mass appeal चाहिए।" ऐसी mass appeal के लिए पत्रों में जो सस्तापन लाया जाता है वह केवल शब्दों का होता है भाषा का नहीं। उसके लिए हमारी अनुभूति और मानसिक प्रगति के धातु में खोट मिलाया जाता है, हमारा जीवन सस्ता और हल्का किया जाता है!

शायद इसमें आपको अत्युक्ति जान पड़े—या यह स्पष्ट न हो। एक उदाहरण ले लीजिए। एक ज़माना था, जब हिन्दी-भाषी लोगों के लिए 'मुहब्बत' शब्द का अर्थ कुछ ऊँचा नहीं था, उसमें किसी घटिया भाव की ध्वनि थी। लेकिन प्रेम शब्द में ऐसी कोई ध्वनि नहीं थी— उसका धातु खरा था। पर जबसे सिनेमा की कृपा से 'प्रेम नगर में प्रेम का घर, प्रेम ही का आँगन, प्रेम की छत और प्रेम के द्वार, प्रेम की नदी और प्रेम के कगार' बन गये, तब से क्या अब किसी आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए किसी दिव्य अभिप्राय से यह कहना सम्भव रहा है कि "मैं तुमसे 'प्रेम' करता हूँ"? मेरा अनुमान है कि आप किसी को सच्चे दिल से भी यह कहते सुनेंगे तो मुस्करा देंगे। क्योंकि यह सिक्का खोटा हो गया है, बाज़ार में दुकान-दुकान पर तिरस्कृत होता है, और उसका चल जाना एक झूठ का चल जाना है। जाली प्रामिसरी नोट की तरह उसके साथ एक प्रामिस तो है, पर उसकी पूर्ति नहीं, प्रामिस को सच्चा करनेवाला गोल्ड रिज़र्व नहीं रहा है।

और केवल शब्द ही सस्ता नहीं हुआ है, उसका प्रयोग करनेवालों का मानसिक जीवन भी उतना ही सस्ता हुआ है; क्योंकि प्रेम का नगर और घर और मन्दिर और नदी तो हैं, लेकिन प्राण स्रोत सूख गया है, और यदि वह कहीं फूट निकलना भी चाहे, तो कम से कम इस मार्ग से नहीं बह सकता—वह गहरा अर्थ इस शब्द से सदा के लिए अलग हो गया है।

मैं प्रायः उस समस्या की परिभाषा तक पहुँच गया हूँ जो मैं आपके सामने

उपस्थित करना चाहता हूँ, जो मेरी समझ में हमारे आधुनिक जीवन की मौलिक समस्या है और जिसका हल किए बिना हमारा भविष्य अंधेरा है।

किन्तु उस समस्या को उपस्थित करने से पहले मैं दो एक बातें और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

मैंने ऊपर भाषा के सस्ते किये जाने और पत्रों का स्टैण्डर्ड गिराये जाने का उल्लेख किया है। इससे एक ग़लतफ़हमी भी हो सकती है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि यह उतार अकारण पैदा कर दिया जाता है। निस्सन्देह परिस्थिति की मजबूरी यहां भी है, और विकट रूप में है। इस मजबूरी की पड़ताल भी आरम्भ में की जाय, क्योंकि इससे भी संस्कृति की समस्या पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

मशीन युग बेहद उत्पत्ति का युग है। और बेहद उत्पत्ति तभी लाभप्रद हो सकती है जब उसकी मशीनरी से पूरा काम लिया जाय और सारी उपज तत्काल बाज़ार में खप जाय। मुनाफ़े के सिद्धान्त पर आश्रित आधुनिक व्यवस्था में बेहद उत्पत्ति का अर्थ होता है कारखानों—बल्कि समूचे वर्गों और नगरों—को व्यक्तिगत लाभ के लिए संगठित करना और प्रतियोगिता में चलाना। उसका उद्देश्य मांग की पूर्त्ति करना नहीं, उपज के लिए मांग ढूँढना या पैदा करना हो जाता है। इसीलिए किसी ने कहा है,

"The material prosperity of modern civilization depends upon inducing people to buy what they do not want and to want what they should not buy."

इस परिस्थिति का परिणाम यह है कि आधुनिक जीवन विज्ञापन की नींव पर खड़ा है—बिना विज्ञापन के आधुनिक सभ्यता चल नहीं सकती। आधुनिक विज्ञापन-बाज़ी की उन्नति का यही कारण है। एक व्यक्ति ने तो कहा है कि आधुनिक युग में किसी कला ने उन्नति की है तो 'विज्ञापन कला' ने! पत्र-पत्रिकाएं इस विज्ञापन का साधन हैं। शायद उनकी उन्नति का भी यही कारण है! क्योंकि आधुनिक पत्र साहित्य का मुख्यांश विज्ञापनों पर जीता है। कई ऐसे भी पत्र हैं जिनकी लागत उनके चन्दे के मूल्य से कहीं अधिक—कभी-कभी दुगुनी तक—होती है। यह कमी विज्ञापन की आमदनी से पूरी होती है। अतः स्पष्ट है कि जहां एक ओर विज्ञापन प्राप्त करने के लिए बड़ी ग्राहक-संख्या की जरूरत होती है, वहां दूसरी ओर बड़ी ग्राहक-संख्या के साथ-साथ विज्ञापन का भी महत्व अधिक हो जाता है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि पत्र के किसी अंश का कोई मोल है तो विज्ञापन के पन्नों का, क्योंकि प्रकाशन और वितरण का खर्च इतना बढ़ गया है कि चन्दे से कभी पूरा नहीं हो सकता। आपने नहीं सुना होगा, एक नए अमेरिकन पत्र को एक वर्ष में पांच

लाख डालर का घाटा इसलिए हुआ था कि उसने विज्ञापन दर निश्चित करते समय ग्राहक-संख्या का जो अन्दाज लगाया था, ग्राहक-संख्या उससे लगभग दुगुनी हो गई और फलतः बिकनेवाली प्रत्येक प्रति पर उसे घाटा उठाना पड़ा।

इस परिस्थिति का सम्पादक के लिए क्या परिणाम होता है? अगर वह पत्र का मालिक भी है, तब तो स्पष्ट है कि उसे एक विराट् व्यापारिक उद्योग के अंग के रूप में प्रतियोगिता में पड़ना पड़ेगा; लेकिन अगर वह केवल वैतनिक कर्मचारी है, तो भी क्या वह उस प्रतियोगिता से मुक्त है? जब तक प्रकाशन एक व्यवसाय है, तब तक उसे मुनाफा देना होगा; अतः सम्पादक को चाहे कितनी भी स्वतन्त्रता दी जाय, एक बात की स्वतन्त्रता उसे नहीं दी जायगी - पत्र की ग्राहक-संख्या घटने देने की स्वतन्त्रता। पत्र का मालिक सदिच्छा रहने पर भी यह स्वतन्त्रता नहीं दे सकता, यह मैं अपने छोटे-से अनुभव से भी जानता हूँ। इस प्रकार सम्पादक का काम जनता को शिक्षित करना और प्रेरणा देना नहीं रह जाता, बल्कि उसे वह देना जो वह माँगती है, और वह भी अन्य प्रतियोगियों की अपेक्षा कुछ अधिक चटपटे और आकर्षक रूप में। और यह तो हम पहले ही देख चुके कि, जनता क्या माँगती है, यह निर्णय करने का सम्पादक तो क्या, वह स्वयं भी बेचारी स्वतन्त्र नहीं है, वह निर्णय मशीन युग द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थिति ही उसके लिए कर देती है। तब इस विराट नियति-चक्र की भीषणता का कुछ अनुमान हम कर सकते हैं···

आधुनिक युग मशीन युग है। मशीन के विस्तार से प्राचीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति नष्ट हो रही है, और फुरसत नाम की एक नई वस्तु पैदा हो रही है। फुरसत का समय बिताने के लिए सामग्री चाहिए, लेकिन वह सामग्री एक विशेष प्रकार की ही हो सकती है, क्योंकि उसी का रस लेने की सामर्थ्य आधुनिक मानव में बचती है। इसका परिणाम है कि पुरानी संस्कृति के मरने के साथ नई के मान नहीं बन रहे, हमारा मन और आत्मा संकुचित हो रहे हैं और हम यथार्थता का सामना करने के अयोग्य बनते हैं। दूसरी ओर, मशीन युग के साथ जो mass production आया है, उसके लिए विज्ञापनबाज़ी आवश्यक है। विज्ञापनबाज़ी स्वयं मशीन युग की विशेषताओं को उग्रतर बनाती है, और साहित्य को सस्ता, घटिया, और एकरस बनाने का कारण बनती है।

संस्कृति का मूल आधार भाषा है, और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है। अतः साहित्य का पतन संस्कृति का और अन्ततः जीवन का पतन है—मशीन युग हमारे जीवन को सस्ता, घटिया और अर्थहीन बना रहा है।

क्या हमारे लिए कोई उपाय है, कोई आशा है? क्या साहित्य का नष्ट होता हुआ चमत्कार फिर से जाग्रत हो सकेगा? कोई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति तो

अपने लिए मार्ग निकाल ही सकेगा, और प्रतिभा में क्रान्ति करने की शक्ति होती है, लेकिन साहित्य केवल प्रतिभा के सहारे नहीं जी सकता, उसका स्टैण्डर्ड ऊँचा बनाये रखने के लिये बहुत-से अच्छे साहित्य-सेवी भी चाहिए और विदग्ध रुचि के पाठकों का समुदाय भी चाहिए।

तो प्रश्न को इस रूप में देखना चाहिए—'क्या आज के बड़े और बिखरे हुए और यन्त्रबद्ध वर्गों में भी उसी ढंग की सजीव और dynamic संस्कृति कायम रखी जा सकती है जैसी पुराने वर्गों में, या वर्गों के छोटे-छोटे मण्डलों में, बनी रहती थी? यदि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है, तब साहित्य का भविष्य अंधेरा है, क्योंकि जनता-जनार्दन को जो नहीं चाहिए वह नहीं रहेगा। यदि उत्तर अनुकूल है, तभी कुछ आशा हो सकती है, लेकिन तब प्रश्न उठता है, कैसे?

इस प्रश्न का कोई बना-बनाया उत्तर नहीं है, हल हमें तय्यार करना होगा और उसका चित्र अभी बहुत धुँधला ही दीखता है। यह तो प्रायः सिद्ध हो गया है कि दैन्य और बेकारी और चिन्ता से मुक्ति मिलने से ही संस्कृति और सुरुचि अपने आप नहीं प्रकट हो जाते। अतः संसार की आर्थिक अवस्था सुधरने और जीविका का स्टैण्डर्ड ऊँचा होने भर से एक विश्व-संस्कृति या एक राष्ट्रीय संस्कृति भी स्वयं पैदा नहीं हो जायगी। यह झूठी आशा इसलिए और भी असार हो जाती है कि आज भी ऐसे अनेकों कर्कश किन्तु बलिष्ट स्वर हैं जो चिल्ला रहे हैं कि आर्थिक अवस्था का सुधार और सामाजिक वैषम्य का अन्त ही एक मात्र ध्येय है, साहित्य और कला भाड़ में जांय— या रहें भी तो राजनैतिक उद्देश्यों की अनुचर होकर!

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि किसी तरह की क्रान्ति के पहले ह्रास का निकृष्टतम तक छूना होगा, कि साहित्य के महान आदर्श पीढ़ियों की उपेक्षा के नीचे दबकर ही पुनः अंकुरित होंगे और सौन्दर्य के दुर्भिक्ष से आक्रन्त जगत् को नये प्राण देंगे। हो सकता है कि ऐसा समय आने तक, साहित्यकारों और साहित्य-शिक्षकों का एक संगठित समुदाय संसार को पुनः शिक्षित बना दे— इतिहास में ऐसे उदाहरण तो हैं कि एक भौगोलिक क्षेत्र एकाएक पुनः शिक्षित बन गया हो— सांस्कृतिक पुनर्जीवन असम्भव तो नहीं है। लेकिन क्या यह डर बना हुआ नहीं है कि संसार की वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा भी सम्भव है कि साहित्य को वह मौका न मिले—वह घुटकर मर जाय? संसार भर में जिन लोगों को स्वतन्त्र सौन्दर्य से प्रेम है, उनके हृदयों में यही डर बसा हुआ है—फिर उनके राजनैतिक विचार और दृष्टिकोण कितने ही भिन्न क्यों न हों। साहित्य की कला, जो गरीबी से कभी बहुत दूर नहीं रही थी, कभी गर्वीली और मुक्त थी; लेकिन आज हम देखते हैं कि वह बन्दिनी है और

व्यभिचार के लिए मजबूर है, जब कि विज्ञापनवाजों की चुनी हुई एक नटनी, 'मिस लिटरेचर' उसका स्वाँग भर रही है।

तब त्राण कहाँ से होगा? हमें समझ लेना चाहिए कि हमारा उद्धार मशीन से नहीं होगा, प्रचार-विज्ञापन से नहीं होगा, लेक्चर और विवाद और कवि सम्मेलनों से नहीं होगा। अगर उद्धार का उपाय कोई है, तो वह संस्कृति की रक्षा और निर्माण की चिर जागरूक चेष्टा, और उस चेष्टा की आवश्यकता में अखण्ड विश्वास, का ही मार्ग है। साहित्य का, कला का, चमत्कार मर रहा है, मरा अभी नहीं है, अगर उस चमत्कार को पैदा करनेवाले पतन और निराशा से बच सकते हैं, और उससे मुकाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं, तो अभी परित्राण सम्भव है। और इस शक्ति को उत्पन्न करने का एकमात्र मार्ग है शिक्षा—शिक्षा जो निरी साक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो व्यक्ति की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है। यदि यह कथन बहुत अस्पष्ट जान पड़े, तो समझिये कि ज़रूरत है रुचि-संस्कार की, परख करने की, ट्रेनिंग की। बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के संस्कृति नहीं है, और बिना वैज्ञानिक, आलोचना-मूलक ट्रेनिंग के ऐसी अनुभूति नहीं है। महान् ट्रेजेडी के दिव्य और शोधक प्रभाव के आस्वादन के लिए, वीर-काव्य की गरुड़ की उड़ान की चपेट सहने के लिए, लय और सौन्दर्य में डूबने के लिए, अपने भीतर नीर-क्षीर-विवेचन की प्रतिभा पैदा करने के लिए, मानसिक शिक्षण नितान्त आवश्यक बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए अथक परिश्रम विचार और एकाग्रता की ज़रूरत है।

यदि शिक्षण आधुनिक जगत के प्रति अपना दायित्व पूरा करना चाहता है, तो उसे यह दुहरी जागरूकता पैदा करनी होगी—एक तो ऊपर वर्णित सांस्कृतिक विकास की क्रियाओं के प्रति, और दूसरे तात्कालिक भौगोलिक और मानसिक परिस्थिति के प्रति, और हमारी रुचियों, आदतों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों पर उस परिस्थिति के असर के प्रति। स्वस्थ संस्कृति में हम नागरिक को स्वतन्त्र छोड़कर आशा कर सकते हैं कि उसकी परिस्थिति से ही उसकी संस्कृति उत्पन्न और नियमित होगी; किन्तु आज यदि हम जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परखने और मुक़ाबला करने की शक्ति को संगठित करना होगा, हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

यह अतिरिक्त जागरूकता ही बचने का एकमात्र उपाय है। ऐसे ही जागरूक व्यक्तियों के द्वारा वह अलौकिक स्वास्थ्य-चेष्टा, वह प्रचेतन जीवनी-शक्ति instinct of self preservation, कार्य कर सकेगा जो हमारी resistance की बुनियाद है।

—

कला का स्वभाव और उद्देश्य

एक बार एक मित्र ने अचानक मुझसे प्रश्न किया—'कला क्या है ?'

मैं किसी बड़े प्रश्न के लिए तय्यार न था। होता भी, तो भी इस प्रश्न को सुन कर कुछ देर सोचना स्वाभाविक होता। इसी लिए जब मैंने प्रश्न के समाप्त होते-न-होते अपने को उत्तर देते पाया, तब मैं स्वयं कुछ चौंक गया। मुझे अच्छा भी लगा कि मैं इतनी आसानी से इस युग-युगान्तर के मसले पर फ़तवा दे गया।

पीछे लाज आयी। तब बैठकर सोचने लगा, क्या मैंने ठीक कहा था ?

क्रमशः सोचना आरम्भ किया ; कला के विषय में जो कुछ एक अस्पष्ट और अर्धचेतन विचार अथवा धारणाएँ मेरे मन में थीं, जिनसे मैं अनजाने ही शासित होता रहा था और कला सम्बन्धी विवादों के वातावरण में रहकर भी आश्वस्त भाव से कार्य कर सका था, वे विचार और धारणाएँ चेतन मन के तल पर आयीं ; एकाधिक कोणों से जाँची गयीं। आज मैं दुबारा उस दिन कही हुई बात को कह सकता हूँ—कुछ हिचक के साथ, लेकिन फिर भी अनाश्वस्त भाव से नहीं। कुछ इस भावना से कि यह एक प्रयोगात्मक स्थापना है—सम्पूर्ण सत्य इसमें नहीं होगा, लेकिन इसकी अवधारणा सत्य के अन्वेषण और पर्यवेक्षण पर हुई है, अतः उसकी अ-सम्पूर्णता भी वैज्ञानिक है।

पहले सूत्र, फिर व्याख्या यह भारत की शास्त्रीय प्रणाली है। इसी के अनुकूल चलते हुए पहले सूत्र रूप से अपनी स्थापना उपस्थित की जाय। परिभाषा वह नहीं है, लेकिन परिभाषा उसमें निहित है, और व्याख्या में लक्ष्य हो सकेगी।

कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है।

इस स्थापना की परीक्षा करने के पहले कल्पना के आकाश में एक उड़ान भरी जाय। आइए, हम उस अवस्था की परिकल्पना करने का यत्न करें जिसमें पहली-पहली कलात्मक चेष्टा हुई—जिसमें कला का जन्म हुआ।

काव्य-कला के बारे में आपने वाल्मीकि की कथा सुनी है—क्रौंच-वध से फूटे हुए कविता के अजस्र निर्झर की बात आप अवश्य जानते हैं। वह कहानी सुन्दर है, और उसके द्वारा कविता के स्वभाव की ओर जो संकेत होता है—कि कविता मानव की आत्मा के आर्त्त-चीत्कार का सार्थक रूप है—उसकी कई व्याख्याएँ की जा सकती और की गयी हैं। लेकिन हम इसे एक सुन्दर कल्पना से अधिक कुछ नहीं मानते।

बल्कि हम कहेंगे कि हम इससे अधिक कुछ मानना चाहते ही नहीं। क्योंकि
यह नहीं मानना चाहते कि कविता ने प्रकट होने के लिए इतनी देर तक प्रतीक्षा
वाल्मीकि का रामचन्द्र का काल, और अयोध्या जैसी नगरी का काल, भारतीय सं
के चरमोत्कर्ष का काल चाहे न भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि संस्कृति की एक
विकसित अवस्था का काल था, और हम यह नहीं मान सकते—नहीं मानना चाह
कि मौलिक ललित कलाओं में से कोई एक भी ऐसी थी जो इतने समय तक
हुए बिना ही रह गयी थी।

अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना करना चाहते हैं, वह वाल्मीकि से
पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरे की शरण लेकर कहें कि वह नागरिक स
से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह खेतिहर सभ्यता से और चरवाहा (noma
सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी चाहिए—वह अवस्था जब मानव करा
कन्दराएँ खोदकर रहता था, और घास-पात या कभी पत्थर या तांबे के फर
आखेट करके मांस खाता था।

उस समय के मानव-समाज—(उस प्रकार के यूथ को 'समाज' कहना ह
स्पद लग सकता है, लेकिन 'समाज' का मूल-रूप यही विस्तारित कुटुम्ब रहा है
की कल्पना कीजिए और कल्पना कीजिए उस समाज के एक ऐसे प्राणी की, जो
वस्था में ही किसी कारण—सर्दी खा जाने से, या पेड़ पर से गिर जाने से, या
टक में चोट लग जाने से—किसी तरह कमजोर हो गया है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है।
जितना ही कम विकसित हो, उतना ही वह दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य
है—अविकसित समाज में विकल्प की गुंजाइश कम रहती है। इसी बात को यों
कहा जा सकता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित धर्म (functi
होता है, और जितना ही समाज अविकसित होता है, उतना ही वह धर्म दृढ़
अनिवार्य। इसलिए, जहाँ आज के समाज में व्यक्ति स्कूल भी जा सकता है
बाजार या नाचघर या खेत पर भी, वहाँ हमारी कल्पित अवस्था में नित्यप्रति
के सभी सदस्य सबसे पहले अपने-अपने अस्त्र लेकर खाद्य सामग्री की खोज में नि
होंगे। फिर वे आवश्यकतानुसार खोह बनाते या साफ करते होंगे, इत्यादि। इस
में रुचि-वैचित्र्य के कारण कोई अदल-बदल भी हो सकता है, यह उनकी कल्प
बाहर की बात होगी।

स्पष्ट है कि हमने जिस 'किसी कारण कमजोर' व्यक्ति की कल्पना की है,
अपने समाज का यह धर्म निभा न सकता होगा। अतएव सामाजिक दृष्टि से
अस्तित्व अर्थ-हीन होता होगा। कौटुम्बिक स्नेह, मोह या ऐक्य-भावना के

कोई उस व्यक्ति को कुछ कहता न भी हो, तो भी मूक करुणा का भाव, और उसके पीछे छिपा हुआ उस व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता का ज्ञान, समाज के प्रत्येक सदस्य के मन में होता ही होगा।

और क्या स्वयं उस व्यक्ति को इसका तीखा अनुभव न होता होगा? क्या बिना बताये भी वह इस बोध से तड़पता न होगा कि वह अपात्र है, किसी तरह घटिया है, क्षुद्र है? क्या उसका मुँह इससे छोटा न होता होगा और इस अकिंचनता के प्रति विद्रोह न करता होगा?

यहाँ तक उसकी अनुभूति की बात है, और आशा की जा सकती है कि आपको यह कल्पना अग्राह्य नहीं होगी। अब तनिक सोचा जाय कि यह अनुभूति उसे प्रेरणा क्या देगी—किस कार्य की मूल प्रेरणा बनेगी।

यह कहना कठिन है कि इस अपर्याप्तता के ज्ञान से एक ही प्रकार की प्रेरणा मिल सकती है। यह वास्तव में व्यक्ति के आत्मबल पर निर्भर करता है कि उसमें क्या प्रतिक्रिया होती है। वह आत्महत्या भी कर सकता है और शत्रु से लड़ने जाने का विराट् प्रयत्न भी कर सकता है। लेकिन सब सम्भाव्य प्रतिक्रियाओं की जांच यहाँ अप्रासंगिक होगी। हम ऐसे ही व्यक्ति को सामने रखें, जिसमें इतना आत्मबल है कि इस ज्ञान की प्रतिक्रिया रचनात्मक (positive) हो, न कि आत्म-नाशक।

ऐसे व्यक्ति के अहं का विद्रोह अनिवार्य रूप से सिद्धि की सार्थकता के Justification की खोज करेगा। वह चाहेगा कि यदि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है, तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता है तो उस जीवन को ही एक नया अवयव दे जिसके ताल पर वह चले।

यह चाहना शायद चेतन नहीं होगी, तर्कना द्वारा सिद्ध करके नहीं पाई गई होगी। सिद्धि की इच्छा अहं का तर्क द्वारा निर्धारित किया हुआ धर्म नहीं है, वह उसका मौलिक स्वभाव है। अतएव यह चाहना तर्कना के तल पर न आने से भी कमजोर नहीं हुई होगी, बल्कि अधिक दुर्निवार ही होगी-वैसे ही जैसे समुद्र की सतह को छालियों से कहीं अधिक दुर्निवार प्रवाह नीचे की धाराओं (Currents) में होता है।

तो इस चाहना द्वारा अज्ञात-रूप से प्रेरित होकर—वैसे ही, जैसे कस्तूरी-मृग अपने ही गन्ध द्वारा उन्मादित होता है—व्यक्ति क्या करेगा? अपना-अपना धर्म सम्पादित करते हुए व्यक्तियों से घिरे हुए अपर्याप्तता के बोध के उस निविड़ अकेलेपन में, वह किस तरह अपने मर्म की रक्षा करता होगा?

हमारी कल्पना देखती है कि जब उस समाज के समर्थ और बलिष्ठ अहेरी अपने-अपने अस्त्र संभालते हैं, तब वे पाते हैं, उनके अस्त्रों के हत्थों पर शिकार की मूर्तियाँ

खुदी हुई हैं, जिनमें अपनी सामर्थ्य का प्रतिबिम्ब देख कर उनकी छाती फूल उठती है; कि जब वे दल बाँध कर खोहों से बाहर निकलते हैं, तब शिकार के रणनाद और घमासान के तुमुल स्वर न जाने कैसे एक ही कण्ठ के आलाप में रणरंगित हो उठते हैं, कि जब वे लदे हुए कंधों पर थके और श्रमसिंचित मुँह लटकाए खोहों की ओर लौटते हैं तब पाते हैं कि खोहों का मार्ग पत्थर की बुकनी से आँकी गयी फूल-पत्तियों से सजा हुआ है; कि जब वे दाम्पत्य जीवन की द्विगुणित एकान्तता में प्रवेश करते हैं तब सहसा पाते हैं कि उस जीवन की चरमावस्था सहचरी के वक्ष पर किसी फल के रस से गोद दी गयी है!

तब वे विस्मय से भरकर कहते हैं, 'अमुक है तो बिचारा, लेकिन उसके हाथ में हुनर है।'

हमारे कल्पित 'कमजोर' प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है—उसे एक नई उपयोगिता सिखायी है—सौन्दर्य-बोध! पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कलाचेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी, फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे वाणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा चाहे मिट्टी के लोंदों द्वारा।

कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है।

(२)

यहाँ पाठक कह सकता है, कल्पना तो अच्छी है, लेकिन जो स्थापना उसके सहारे की गई है वह कोई निश्चित अर्थ नहीं रखती। क्योंकि 'समाज' से क्या मतलब? और अपर्याप्तता का क्या अभिप्राय? मान लीजिए कि व्यक्ति रहता ही है अकेला, उसके आस-पास कोई और व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय है ही नहीं, तब क्या वह कलाकार हो ही नहीं सकता? और आधुनिक युग में, जब समाज का संगठन ऐसा है कि 'कमजोर' व्यक्ति भी पद या धन की सत्ता के कारण समर्थ हो सकता है, तब अपर्याप्तता का अनुभव कैसा?

'समाज' से अभिप्राय है वह परिवृत्ति जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार अपनापा महसूस करे। वह मानव-समाज का एक अंश भी हो सकती है, और मानव-समाज की परिधि से बाहर बढ़कर पशु-पक्षियों (जीव-मात्र) को भी घेर सकती है; बल्कि (चरमावस्था में) मानव-समाज को छोड़कर पशु-पक्षियों और पेड़-पत्तों तक ही रह जा सकती है। समाज की इयत्ता अन्ततोगत्वा समाजत्व की भावना पर ही आश्रित है। यदि किसी कारण हम अपनी परिवृत्ति से सामाजिक सम्बन्ध नहीं महसूस करते

तो वह हमारा समाज नहीं है, यदि किसी दूसरी परिवृत्ति से वैसा सम्बन्ध मानते हैं, तो वह हमारा समाज है। इस सम्बन्ध की अनुभूति के कारणों का विश्लेषण यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

'अपर्याप्तता' का आधुनिक अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति धन की, या पद की, या किसी दूसरी सत्ता के कारण अपने को अपने अहं के सामने प्रमाणित कर लेता है, तो अपर्याप्तता की भावना उसमें नहीं होगी, न उसके विरुद्ध विद्रोह करने की ललकार ही उसे मिलेगी। अन्ततः कन्दरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद नहीं रहता; दोनों ही में एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है। यह अनिवार्य नहीं है कि उसके ज्ञान से सदा कला-वस्तु ही उत्पन्न हो, वह परास्त भी कर सकती है परन्तु उससे हमारी यह स्थापना झूठी नहीं होती कि प्रत्येक कला-चेष्टा की जड़ में एक अपर्याप्तता की भावना काम कर रही होती है।

पाठक की इन प्रारम्भिक शंकाओं के शान्त हो जाने पर अन्य शंकाएँ खड़ी होंगी – पाठक के मन में नहीं तो स्वयं कलाकार के मन में। हमारा साहित्यकार शायद जोर-शोर से इस स्थापना का खण्डन करेगा, क्योंकि इससे उसकी 'कमजोरी', उसकी अपूर्णता अथवा हीनता ध्वनित होती समझी जा सकती है। लेकिन इसे इस दृष्टि से देखना उसकी भूल होगी। एक तो इसलिए, कि यह वास्तविक अपूर्णता नहीं, यह एक विशेष दिशा में असमर्थता है। समाज का साधारण जीवन जिस दिशा में जाता है, जिन लीकों में चलता है, उन दिशाओं और उन लीकों में चलने की असमर्थता तो इससे ध्वनित होती ही है, लेकिन क्या यही वास्तव में अपूर्णता या हीनता (Inferiority) है? नहीं। समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान न पाकर तो वह प्रेरित होता है कि वह स्थान बनाये; अतएव पुरानी लीकों पर चलने की असामर्थ्य ही नई लीकें बनाने की सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती है। दूसरे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लेखकों में—बल्कि साधारणतया कलाकारसमुदाय में, जो एक विशेष प्रकार की असहिष्णुता, अहम्मन्यता, एक दुर्विनीत श्रेष्टता की भावना दीख पड़ती है, वह भी एक आत्म-रक्षा का कवच है—किसी मौलिक अपूर्णता या अपर्याप्तता के ज्ञान को अपने अहं के आगे से हटा देने की चेष्टा है। जो पाठक या लेखक आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापनाओं से परिचित हैं वे जानेंगे कि इस प्रकार कि क्षतिपूरक क्रियाएँ मानव-जीवन में कितना महत्व रखती हैं।

(३)

उपर्युक्त अवधारणा एक प्रकार की कल्पना ही है। फिर भी वह उससे कुछ अधिक है। उससे हम एक स्थापना पर पहुँचते हैं और वह कला की परिभाषा न भी करे तो उसके स्वभाव की कुछ व्याख्या अवश्य करती है। लेकिन कोई भी व्याख्या

सार्थक नहीं है; फलवती नहीं है यदि वह विषय को स्पष्ट करने के अतिरिक्त कुछ प्रदर्शन नहीं करती, निर्देश नहीं करती। क्या हमारी व्याख्या इस दृष्टि से कुछ अर्थ रखती है?

हमारा अनुमान है कि 'यदि कला कैसे उत्पन्न होती है?' इस प्रश्न का हमारा दिया हुआ उत्तर ठीक है, तब 'कला किस लिए है?' इस प्रश्न का उत्तर भी इसी में निहित होना चाहिए। क्षण-भर जाँच करके देखें, तो हम पाएँगे कि यह अनुमान ग़लत नहीं है, अर्थात् इस कसौटी पर हमारी परिभाषा खरी उतरती है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का समुचित उत्तर हमें इस परिभाषा से मिल जाता है।

हमने कहा कि कला एक अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है। इसका अभिप्राय क्या है? कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। अर्थात् वह अन्ततः एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है, सामाजिक उपादेयता यद्यपि भौतिक उपादेयता से श्रेष्ठ ढंग की उपादेयता का अनुभव करना चाहता है। अतएव अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व भाव रहता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना अन्त्यन्तिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके? इस प्रकार कलावस्तु-रचना का—एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि 'सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती' और यों भी कह सकते हैं कि 'प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है' अथवा 'सच्ची कलावस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (Ethical value) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है'। हाँ यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति (Ethic) की बात कह रहे हैं, निरी नैतिकता (Morality) की नहीं।

यह एक पक्ष है कि कला समाज के द्वारा समाज के इस या उस अंग के लिए नहीं है, पर उद्देश्यहीन सौन्दर्योपासना, निरा उच्छ्वास भी नहीं है, एक नैतिक उद्देश्य से अन्तःसलिल है।

किन्तु यह एक पक्ष ही है। दूसरा पक्ष भी एक है। ऊपर कहा गया कि कला एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अगर इस वाक्य के पूर्वार्ध पर आग्रह था, अब उसके उत्तरार्ध पर विचार किया जाय। 'आत्मदान' अहं को ही पुष्ट करने के लिए है, क्योंकि अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, बल्कि शायद जी भी नहीं सकता। इस

प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में 'स्वान्तःसुखाय' भी होता है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है। 'कला कला के लिए' झूठ नहीं है, वह अत्यन्त सत्य है, लेकिन एक विशेष अर्थ में। यदि 'कला कला के लिए' का अर्थ है, निरे 'सौन्दर्य' की खोज—किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के द्वारा एक रसायनिक सौन्दर्य की उपलब्धि, तब वह कला और कलाकार को कोई भी सुख नहीं दे सकती—न आत्मदान का न आत्मबोध का, वह कला वन्ध्या है।

कला के इस दुहरे उत्तरदायित्व को समझ कर ही अपने कलाकार अपने और अपने समाज और यदि उसकी आत्मा इतनी विशाल है कि 'समाज' के अन्तर्गत समूचे मौलिक जगत् को खींच सकती है, तब वह अपने संसार के सम्बन्ध को फलप्रद बना सकता है, सिद्ध हो सकता है, अर्थात् सच्चा कलाकार हो सकता है।

रूढ़ि और मौलिकता

The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.*

टी० एस० इलियट

'भारतवासी रूढ़िवादी हैं,' यह कथन हम सबने कभी-न-कभी सुना है। प्रायः वह स्वीकार भी होता रहा है। एक दिन इस कथन में सराहना का भाव था—यह भारतीयों का गुण समझा जाता था कि वे रूढ़ियों को मानते हैं; आज, जब चारों ओर 'प्रगति' की इतनी चर्चा है तब रूढ़ियाँ हमारे जीवन-नाटक के खल-नायक के पद पर शोभित होने लगी हैं। साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में, यह फैशन-सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरस्कार किया जाय। जब यह तिरस्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा कि 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। उदाहरणतया हम प्रायः कहते हैं कि 'हरिऔध' रूढ़िवादी हैं, तथा पन्त और 'निराला' आधुनिक हैं यानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हैं।

आलोचना के वर्त्तमान फैशन की ओर तनिक ध्यान दें तो हम देखेंगे, आजकल हिन्दी में (हिन्दी में ही क्यों, प्रायः सर्वत्र ही,) लेखक अथवा कवि की रचनाओं के 'मौलिक', 'व्यक्तिगत' विशेष गुणों पर ज़ोर देने की परिपाटी-सी चल पड़ी है। आजकल का साहित्यकार अपनी 'भिन्नता' के लिए ही प्रशंसा पाता है, 'मौलिकता' 'भिन्नता' का ही पर्यायवाची बन गया है। कवि को हम उसके पूर्ववर्त्तियों से, विशेषकर निकट पूर्ववर्त्तियों से, उच्छिन्न करके देख सकें तभी हमें सन्तोष होता है। आलोचकों के आगे यह कहना अपने को हास्यास्पद बना देना होगा कि कभी-कभी साहित्यकार का गौरव, उसकी रचना का महत्व, इस बात में भी हो सकता है कि उसमें साहित्यकार के पूर्ववर्त्तियों की लम्बी परम्परा, उसके साहित्य की रूढ़ि, पुनः जी रही और मुखर हो रही है!

लेकिन हास्यास्पद बनने का खतरा उठाकर भी यही कहना आवश्यक जान पड़ता है कि रूढ़ि-परम्परा-के विषय में अपनी धारणाओं की दुबारा जांच करना अनिवार्य

---

* कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाली मनीषा का पृथक्त्व स्पष्ट होगा।

हो गया है। क्या हमारी धारणा ठीक है ? क्या 'रूढ़ि' की परिभाषा 'पुराने साहित्य की अग्राह्य और खण्डनीय परिपाटियाँ' ही है ? क्या परम्परा को निबाहना, गई हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं के अन्धानुकरण का ही नाम है ? रूढ़ि क्या है ? परम्परा का साहित्य में क्या स्थान है, और साहित्यकार के लिए क्या मोल ?

रूढ़ि की रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया, और विशालतर अर्थ लेना होगा। हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी-बनाई चीज़ नहीं है जिसे साहित्यकार ज्यों-का-त्यों पा या छोड़ सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक सकता है। हमें यह किंचित् विस्मय-कारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है, लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है। और हम यह भी सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वाञ्छनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।

रूढ़ि की साधना, परम्परा के प्रति जागरूकता, कैसे प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उसके कार्य के मूल्य को, प्रभावित करती है ? इस जागरूकता का मुख्य उपकरण है एक ऐतिहासिक चेतना—अर्थात् जो कालानुक्रम में बीत गया है, अतीत है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्त्तमानता की भी तीखी और चिर-जाग्रत अनुभूति। साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'आसीत्' का और 'अस्ति' का, जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का, ज्ञान उसमें बना रहे। आधुनिक हिन्दी लेखक में यदि यह ऐतिहासिक चेतना होगी, तो उसकी रचना में न केवल अपने युग, अपनी पीढ़ी से उसका सम्बन्ध बोल रहा होगा ; बल्कि उससे पहले की अनगिनत पीढ़ियों की, और उनके साथ अपनी पीढ़ी की संलग्नता और एकसूत्रता की भी तीव्र अनुभूति स्पन्दित हो रही होगी। जो 'है', उसकी साधना में ऐसा साहित्यकार उसे एक ओर हटाकर नहीं फेंक सकेगा जो 'था' ; वह अनुभव करेगा कि 'अतीत' उसी का नाम है जो पहले से वर्त्तमान है, जब कि 'आज' वह है जो वर्त्त-मान होना आरम्भ हुआ है। अतीत और वर्त्तमान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक् वर्त्तमानता और उनकी एकसूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है ; और इस चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकास ही परम्परा का ज्ञान। काल की प्रवहमानता के ऐसे ज्ञान के बिना साहित्यकार उस प्रवाह में अपना स्थान भी नहीं जान सकता, आधुनिक क्या किसी भी युग में जम नहीं सकता। ऐसे ज्ञान से हीन साहित्य-कार ऐसा अंकुर है जो कहीं से भी प्राण-रस खींचने का मार्ग नहीं स्थापित कर सका 'काल के महाप्रांगण' में कहीं भी अपनी जड़ें नहीं जमा सका, जो उच्छिन्न होकर ही फूटा है।

इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का यत्न किया जाय। इसके लिये हम आज का कोई भी कवि ले लें—'नूतन' अथवा 'विद्रोही' माना जानेवाला कवि ही—मान लीजिए सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। क्या इन्हें समझना, इनकी समीक्षा करना साहित्य के विकास में इनका स्थान और महत्व निश्चित करना, इनकी रचना का मूल्य आंकना, केवल उन्हीं को अकेले-अकेले देखकर सम्भव है? क्या उनकी तत्कथित विशेषता, भिन्नता, को देखने के लिए भी हम उन्हें उनके पूर्ववर्त्तियों के बीच नहीं रखेंगे, उनसे तुलना नहीं करेंगे? क्या उन पर, किसी भी कवि पर, कोई भी मत स्थिर करने से पहले हम उसके पूर्ववर्त्ती साहित्यकारों और कवियों के साथ उसके सम्बन्ध की जांच-पड़ताल नहीं करेंगे?

इस प्रकार का अन्वेषण केवल 'ऐतिहासिक' विवेचन के लिए नहीं, कलात्मक विवेचन के लिए भी नितान्त आवश्यक है। कोई भी कलावस्तु, चाहे कितनी भी नयी क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है जो अकस्मात् अपने आप 'घटित' हो गई है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने-आप में नहीं, अपने पूर्ववर्त्ती तमाम कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है। जितनी ही वह नयी है, उतनी ही महत्वपूर्ण घटना कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है; उतना ही परम्परा के साथ उस सम्बन्ध का अन्वेषण करना प्रासंगिक हो गया है! क्योंकि 'जो पहले से वर्त्तमान है' उसकी तो एक बनी-बनाई परम्परा थी, उसमें एक प्रवहमान स्थिरता, एक सामंजस्य था जो कि एक नयी वस्तु के आविर्भाव से डांवाडोल हो गया है। पुनः किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित होने के लिए, एक नया तारतम्य प्राप्त करने के लिए, समूची परम्परा को पुनः जमाना होगा, फिर इसके लिए आवश्यक परिवर्त्तन चाहे कितना ही अल्प अथवा सूक्ष्म क्यों न हो।

परिणाम यह निकला कि प्रत्येक नई रचना के आते ही, पूर्ववर्त्ती परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध, उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष्य मूल्य अथवा महत्व का फिर से अंकन हो जाता है; तथा 'पुरातन', और 'नूतन', 'रूढ़' और 'मौलिक', परम्परा और प्रतिभा में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम वर्त्तमान को अतीत के मानदण्ड पर नाप रहे हैं, अथवा कि अतीत को ही वर्त्तमान द्वारा आँक रहे हैं। वास्तव में इस क्रिया द्वारा दोनों विभूतियाँ परस्पर एक दूसरे के योग पर, घटित होती हैं। आधुनिक साहित्यकार को मानना पड़ता है कि, वह चाहे या न चाहे, उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा, उतना ही नियमित होना पड़ता है जितना वह स्वयं उसे परिवर्त्तित अथवा परिवर्धित करता है।

निस्सन्देह ऐसा ज्ञान आधुनिक साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बहुत बढ़ा देता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इससे साहित्य-रचना में कठिनाइयाँ भी

उत्पन्न होती हैं। क्योंकि इससे लेखक में यह चेतना उत्पन्न होती है कि एक विशेष अर्थ में वह अतीत द्वारा जोखा जा रहा है, उसके आगे परीक्षार्थी है। लेकिन उसे समझना चाहिए कि वह अतीत द्वारा जोखा ही जाता है, कुण्ठित नहीं होता। अतीत का निर्णय खण्डित करनेवाला, बाँधनेवाला नहीं है--आधुनिक लेखक की आलोचना पूर्ववर्त्तियों जैसा या पूर्ववर्त्तियों से अच्छा या बुरा कहकर नहीं की जा सकती। न ही आधुनिक साहित्य का मोल पूर्ववर्त्ती आलोचकों की कसौटियों पर आँका जा सकता है। अतीत द्वारा जोखे जाने का अर्थ अतीत मानदण्डों द्वारा जोखा जाना नहीं है। अतीत के कृतित्व का अन्धानुकरण विघातक होगा। निरी गतानुगतिकता से कला की परम्परा की रक्षा कदापि नहीं होती ; क्योंकि जो केवल आवृत्ति है वह नूतन नहीं है और नूतनता के चमत्कार के बिना वह कला ही नहीं है। अतीत के द्वारा जोखे जाने का अभिप्राय इतना ही है कि नूतन रचना उसके साथ एक तारतम्य स्थापित कर सके, एकसूत्र हो सके, उसमें परम्परा की प्रवहमानता स्पन्दित हो। यदि ऐसा नहीं होता, और जब तक ऐसा नहीं होता--यदि नई रचना के साथ कला की रूढ़ि का कोई सम्बन्ध नहीं बनता, वह एक विलग, असम्बद्ध, खण्डित इकाई के रूप में रहती है—तब और तब तक, वह कला के क्षेत्र में महत्व नहीं रखती, प्राणवान् नहीं होती है। बिना एक गतियुक्त और वर्धमान (organic) परम्परा, एक जीवित रूढ़ि के, कला का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इस चौंका देनेवाली और किंचित् शंकनीय उक्ति को तनिक और स्पष्ट करके कहना होगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कोई रचना इसीलिए महत्व रखती है कि वह परम्परा के अनुकूल है ; अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह अनुकूलता अथवा तारतम्य उसके महत्व का सूचक हो सकता है। रूढ़ि के साथ सम्बन्ध अथवा तारतम्य स्वयं ही रचना का मूल्य अथवा महत्व नहीं है ; मूल्य अथवा महत्व उस गतियुक्त और वर्धमान परम्परा में, रूढ़ि की सजीव प्रवहमानता में है जो इस तारतम्य से व्यंजित होती है।

यह परिभाषा, यह सूक्ष्म भेद, इतना महत्व रखता है कि पुनरावृत्ति दोष का सामना करके भी इसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न करना होगा। यों कहें कि कोई भी लेखक अतीत को ज्यों-का-त्यों, सत्तू के गोले की तरह निगल नहीं सकता, लेकिन साथ ही वह अपनी रचना के लिए किसी एक-डेढ़ कलाकार को आदर्श बनाकर, अथवा किसी विशेष काल का अनुसरण करके भी नहीं चल सकता। एक कवि या कवि समुदाय को आदर्श मान कर उसके ढंग अथवा शैली की साधना करना वयःसंधिप्राप्त लेखक के लिए रुचिकर या हितकर हो सकता है ; एक युग की अनुगतिकता साहित्यिक व्यायाम अथवा रुचि-परिष्कार के लिए उपयोगी हो सकती है। लेकिन प्रौढ़ और बलिष्ठ साहित्य इस तरह नहीं चल सकता। साहित्यकार को कला की, साहित्य-सृष्टि की

मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्यिक परम्परा की निरन्तर विकासशील प्रवहमानता से परिचित होना ही होगा; अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्त्तमान के विकास को भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी। उसे अपने निजी, व्यक्तिगत, भिन्न, अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परिवृत्ति के, अपने देश के समष्टिगत मन के—यदि उसकी क्षमता उतनी है तो जन-मन विश्व-मन के—प्रति भी सचेतन होना होगा; क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि यह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है, और जितने ही बड़े मन की जितनी ही गहरी चेतना उसमें है, उतना ही अपने युग के साथ उसका सम्बन्ध फलप्रद है। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानना होगा कि यह सामूहिक मन परिवर्त्तन हो सकता और होता है, विकासशील है, पर इस विकास और परिवर्त्तन में वह अपने किसी अंग का परित्याग अथवा बहिष्कार नहीं करता, केवल उसके प्रति एक नई चेतना पैदा कर देता है। वाल्मीकि के लिए वेदों को, कालिदास के लिए वाल्मीकि को, तुलसीदास के लिए कालिदास को, या मैथिलीशरणगुप्त के लिए तुलसीदास को, वह छोड़े नहीं देता; वह इन सब को अपनी प्रवहमानता के लम्बे सूत्र में पिरोता चलता है। उस मन में 'अतीत' कुछ भी नहीं होता, केवल 'पहले से वर्त्तमान' की वह परम्परा बढ़ती चलती है जिसमें 'नया आया हुआ वर्त्तमान' अपना स्थान बनाएगा। अचिर के साथ चिर के तारतम्य की यही बाध्यता, अचिर की माला में गुंथ जाने का चिर का अधिकार, साहित्यकार के लिए रूढ़ि अथवा परम्परा का यही 'शापमय वरदान' है।

शायद इतना भी पर्याप्त नहीं होगा, शायद साहित्यकार को इससे भी अधिक कुछ जानना होगा। एक तो उसे यह समझना होगा कि 'कला की, साहित्य-रचना की मुख्य प्रवृत्ति' का युग के सबसे उल्लेखनीय कवियों की ही रचनाओं में प्रतिबिम्बत होना अनिवार्य नहीं है। बहुत सम्भव है कि एक युग की मुख्य चिन्ताधारा ऐसे कवियों में लक्ष्य हो जो अपने युग में या कभी भी प्रसिद्धि नहीं पा सके। इस कठिनाई का सामना करते हुए उसे युग की नब्ज पहचाननी होगी, युग की चेतना का विशालतर रूढ़ि की चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा।

दूसरी कठिनाई उसके आगे यह होगी कि यद्यपि सामूहिक मन निरन्तर बदल रहा है, तथापि यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि यह परिवर्त्तन अनिवार्य रूप से 'उन्नति' का परिणाम है--कि इस परिवर्तन द्वारा हम कलात्मक दृष्टि से (अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, कम से कम उस हद तक जितना की कल्पना की जा सकती है) पहले से अच्छे हो गये हैं। निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला

शायद नहीं बदलती। सम्भव है, सामूहिक मन का परिवर्त्तन केवल जीवन के संगठन की क्रमशः बढ़ती हुई उलझन का ही परिणाम है, और स्वयं एक अधिक उलझी (complex) विचार-संघट्टना का पर्यायवाची है। किन्तु वह चाहे जो हो, यह तो स्पष्ट ही है कि उस परिवर्त्तन द्वारा प्राचीन और नवीन में एक अन्तर आ जाता है। अतीत और वर्त्तमान के इस अन्तर को हम यों कह सकते हैं कि जागरूक वर्त्तमान, अतीत की एक नये ढंग की और नये परिणाम में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी। वर्त्तमान में रहनेवाले साहित्यकार के लिए अतीत का, परम्परा का, यही महत्व है।

आधुनिक साहित्यकार के लिए रूढ़ि के ज्ञान को, ऐतिहासिक चेतना को इतना महत्व देना पाठक को अनुचित जान पड़ सकता है। वह कह सकता है कि ऐसी चेतना के लिए बहुत पढ़ाई की, प्रकाण्ड पाण्डित्य की आवश्यकता होगी, और इतिहास की साक्षी दे सकता है कि कलाकार पण्डित नहीं होते, न पण्डित कलाकार। वह कह सकता है कि बहुत अधिक कोरे 'ज्ञान' से अनुभूति-क्षमता कम होती है। सरसरी दृष्टि से यह तर्क बहुत माकूल जान पड़ता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो इसमें एक भ्रान्त धारणा निहित है। ज्ञान अथवा शिक्षण केवल किताबी जानकारी का, परीक्षाएँ पास करने के लिए या रौब डालने के लिए इकट्ठे किए हुए इतिवृत्त का, नाम नहीं है। निस्संदेह साहित्यकार को अपनी ग्रहणशीलता अक्षुण्ण बनाये रखते हुए अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, * लेकिन रूढ़ि के ज्ञान के लिए, परम्परा के सजीव स्पन्दन की चेतना के लिए, निरी जानकारी और पाण्डित्य अनिवार्य नहीं है। ऐतिहासिक चेतना प्राप्त करने के लिए—निजी मन के साथ-साथ और उसके ऊपर, सामूहिक मन का अनुभव करने के लिए—कुछ को बहुत परिश्रम करना पड़ सकता है; कुछ उसे अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। भारत के ग्राम्य-मन की जो जीवित अनुभूति गांधी में है, या हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रेमचन्द में थी, वह पाण्डित्य के सहारे नहीं आई। जो सांस्कृतिक चेतना 'प्रसाद' में गूढ़ अध्ययन के सहारे जागी जान पड़ती है, † वह अधिक स्वाभाविक और स्वच्छ रूप में सियारामशरण गुप्त में लक्षित होती है। कोई लोग घोखकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, कोई अशयास सीखकर।

* और हमारा अनुमान है कि आज के हिन्दी साहित्यकारों में अधिकांश में इतनी जानकारी नहीं है। जितनी उनकी ग्रहणशीलता अथवा अनुभूति-क्षमता है, उसे कम किए बिना भी निरी जानकारी बढ़ाने की बहुत काफ़ी गुंजाइश है।

† इस आयास-सिद्ध सांस्कृतिक चेतना के साथ 'प्रसाद' में एक प्रतिगामी चेष्टा भी है; अपने युग के साथ उनका तारतम्य नहीं स्थापित हुआ। देखिए 'परिस्थिति और साहित्यकार।'

पाण्डित्य पर हमारा आग्रह नहीं, आग्रह इस बात पर है कि साहित्यकार में अतीत की चेतना होनी या आनी चाहिए, और उसे आजीवन इसको पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

किसी ने कहा है, 'The dead writers are removed from us because we know so much more than they did.' अर्थात्, 'हम पूर्ववर्त्ती लेखकों से इसलिए अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।' वह अधिक क्या है? स्वयं हमारे पूर्ववर्त्ती लेखक, जिन्हें हम जानते हैं। यही परम्परा के निर्माण की क्रिया का खुलासा है। इसी बात को दूसरी तरह कहें, तो कह सकते हैं कि रूढ़ि के, परम्परा के, विरुद्ध हमारा कोई विद्रोह हो सकता है तो यही कि हम अपने को परम्परा के आगे जोड़ दें!

और यह योग किस प्रकार होता है? साहित्यकार के आत्मदान द्वारा। कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन, को, अपने तात्कालिक, अधिक क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन में और एक विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक वृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। यह आत्म-निवेदन मृत्यु नहीं है—ऐतिहासिक चेतना के सहारे कलाकार को जानना चाहिए कि व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा वह उस परम्परा को भी परिवर्धित कर रहा है जिस पर वह निछावर है*। छोटे व्यक्तित्व से निरन्तर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना—यही कलाकार की प्रगति और उन्नति है। और ऐतिहासिक चेतना-परम्परा के स्पन्दन की अनुभूति—इस उन्नति का साधन और मार्ग है।

२

Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality. †

—टी० एस० इलियट

साहित्य के निर्माण को समझने के लिए, रूढ़ि के आगे व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग की इस क्रिया का, जिसे ऊपर भी और अन्यत्र भी स्पष्ट करने का यत्न किया गया है, विशेष महत्व है। अतएव इसे और निकट से देखने का प्रयास असंगत न होगा।

आलोचना का विषय साहित्य है, साहित्यकार नहीं, कविता है, कवि नहीं; यद्यपि जैसा कि अन्यत्र भी सूचित किया गया है, साहित्य और काव्य की जाँच के

---

* इस सम्बन्ध में देखिए 'परिस्थिति और साहित्यकार'।

† कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।

लिए भी हमें निरन्तर उस मन की धातु (quality) परखनी होगी जिससे साहित्य उद्भूत हुआ है। स्पष्ट रहे कि 'मन को परख' व्यक्तित्व की या व्यक्तिगत इतिहास की जाँच से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि 'अनुभव करनेवाला प्राणी' और 'रचना करने वाला मन' अलग-अलग हैं या होने चाहिए। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करने के लिए हमें अन्य साहित्यिक कृतियों के साथ उसके सम्बन्ध की ओर तो ध्यान देना ही होगा, साथ ही साथ हमें यह भी जाँच करनी होगी कि रचना का उसके निर्माता के साथ - रचना करनेवाले मन के साथ—क्या सम्बन्ध है। 'प्रौढ़' और कच्ची कवि-प्रतिभा का अन्तर कवियों के 'व्यक्तित्व' के अनुपात में निहित नहीं है, इसमें नहीं है कि किसका 'व्यक्तित्व' कितना बड़ा अथवा कितना आकर्षक है, कौन अधिक रोचक है, अथवा किसके पास अधिक 'सन्देश' है। वास्तविक अन्तर की पहचान यह है कि कौन-सा कवि-मानस किन्हीं विशेष अथवा परस्पर भिन्न, 'उड़ती हुई' अनुभूतियों के मिश्रण और संयोग और चिरनूतन संगम के लिए अधिक परिष्कृत और ग्रहणशील माध्यम है।

अंग्रेजी कवि-आलोचक टी० एस० इलियट ने इस क्रिया की तुलना एक रसायनिक क्रिया से की है। सल्फ़र डायक्साइड और आक्सीजन से भरे हुए पात्र में यदि प्लाटिनम का चूर्ण प्रविष्ट किया जाय तो वे दोनों गैसें मिलकर सल्फ्यूरस एसिड में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया प्लाटिनम की उपस्थिति के बिना नहीं होती, तथापि बननेवाले अम्ल में प्लाटिनम का कोई अंश नहीं होता, न प्लाटिनम में किसी प्रकार का कोई परि-वर्तन ही दीखता है—वह ज्यों का-त्यों पड़ा रह जाता है। इलियट कवि-मानस की तुलना इस प्लाटिनम के चूर्ण से करता है। कवि-मानस भी किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उसके मिश्रण और संगम का माध्यम बनता है; उस संगम से एक कलावस्तु निर्मित होती है जो विभिन्न तत्वों का जोड़ भर नहीं, उससे कुछ अधिक है, एक आत्यन्तिक एकता रखती है; और जो बिना कवि-मानस के माध्यम के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी।

ध्यान रहे कि यद्यपि कवि-मानस ही इस संयोग से चमत्कार उत्पन्न करता है, और इस क्रिया में भाग लेनेवाले तत्व कुछ अनुभूतियां हैं जो कवि के अपने जीवन के घटित से भी उपजी हो सकती हैं (या उसके आत्म-घटित से बाहर की भी हो सकती हैं), तथापि कलावस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूतियों से नहीं होता—कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से—उन अनुभूतियों और भावों के संगम से—जिनसे कवि स्वयं अलग, तटस्थ है, जिन पर उसका मन काम कर रहा है। एक दूसरी उपमा की शरण लें तो कवि का मन एक भट्ठी है जिसके ताप में विभिन्न धातुएँ पिघलकर एकरस हो जाती हैं। ढली हुई धातु विभिन्न तत्वों से बनी है, उनमें से

कुछ धातुएँ स्वयं भट्ठी के स्वामी की सम्पत्ति भी हो सकती हैं, तथापि भट्ठी के स्वामी से भट्ठी का, और भट्ठी से धातु का अलगाव और स्वतन्त्र अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचना-शील मन का यह अलगाव भी आत्यन्तिक होगा। उतना ही रचना करनेवाला कवि-मानस अनुभव करनेवाले मानव से दूर और पृथक होगा; उतना ही चमत्कारपूर्ण उन अनुभूतियों और भावों का संगम होगा जो कवितारूपी प्रतिमा की मिट्टी है--फिर चाहे ये अनुभूतियाँ और भाव कवि के निजी अनुभव के, व्यक्तिगत जीवन के फल क्यों न हों। यों कहें कि जितना ही महान कलाकार होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृति होगी।

जिस मिट्टी से काव्यरूपी प्रतिमा बनती है, जिन तत्वों द्वारा कवि-मानस का असर एक चमत्कारिक योग उत्पन्न करता है, वे तत्व क्या हैं? उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। स्थायी भाव (emotions) और संचारी भाव। कवि इनसे जो चमत्कार उत्पन्न करता है, पाठक के मन पर जो प्रभाव डालता है, वह कला के क्षेत्र से बाहर कहीं किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता—कला का 'रस' कला ही में प्राप्तव्य है; उस अनुभूति की कला के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है, या अनेक भावों के सम्मिश्रण से, या भावों और अनुभूतियों के संयोग से; और यह अनुभूति उत्पन्न करने के लिए कवि कई प्रकार के साधन काम में ला सकता है, कई प्रकार के चित्र खड़े कर सकता है। इस सृष्टि के साधन अनेक और उलझे हुए होते हैं, पर उन साधनों द्वारा उत्पन्न होनेवाले चमत्कार में एक आत्यन्तिक एकता होती है। वास्तव में कलाकार का मन एक भण्डार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र, इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जब कि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जायगा।

कविता की, कलावस्तु की, श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय की या भाव की श्रेष्ठता या 'भव्यता' में नहीं है; और लेखक के लिए उन विषयों या भावों के महत्व में, या उसके जीवन में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में तो बिल्कुल नहीं है। कविता का, कला-वस्तु का गौरव, उसकी 'भव्यता' है उस रसायनिक क्रिया की तीव्रता में जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कविता की--काव्यानुभूति की—तीव्रता और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता, परस्पर भिन्न न केवल हो सकती है बल्कि अनिवार्य रूप से होती है। कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। पाठक के लिए कवि या साहित्यकार का महत्व उसकी निजी भावनाओं के कारण, उसके अपने जीवन के अनुभवों से पैदा हुए भावों के कारण नहीं है। यह

दूसरी बात है कि काव्य-रचना की क्रिया में अन्य भावों और अनुभूतियों के साथ, उसके अपने भाव और अपनी अनुभूतियाँ भी एक इकाई में ढल जाँय—या कि केवल अपने भाव और अनुभूतियाँ ही उस क्रिया का उपकरण बनें। रचयिता का महत्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है। यही बात ऊपर दूसरे ढंग से कही गई है—कि जितना ही कलाकार महान होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी। वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है जिसमें विभिन्न अनुभूतियाँ और भावनाएँ चमत्कारिक योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।

काव्य की निर्व्यक्तिक परिभाषा से एक परिणाम और भी निकलता है। काव्य में नूतनता—और बिना नूतनता के कला कहाँ है?—लाने के लिए कवि को नूतन अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी खोज—नूतन मानवीय अनुभूतियाँ प्राप्त करने की लहक—उसे मानवीय वासनाओं के विकृत रूपों की ओर ही ले जायगी, और उस पर पुष्ट होनेवाला साहित्य या काव्य मानवीय विकृति (perversity) का ही साहित्य होगा। कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नयी धातुओं का शोधक नहीं है; हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।

यह स्थापना शंकनीय जान पड़ सकती है। लेकिन विश्व का महान साहित्य उठाकर देख डालिए—हमारे परिचित भाव ही हमें मिलेंगे, किन्तु नूतन योगों में; और हम यह भी पाएँगे कि इस या उस महान् कलाकार की रचना का वैशिष्ट्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की 'नूतनता' में नहीं, उसके उपकरणों के परस्पर अनुपात और योग के प्रकार की विभिन्नता में और सृजन की क्रिया की तीव्रता की भिन्नता में है। और यह क्रिया, इस क्रिया की तीव्रता—विभिन्न परिचित उपकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण——चेष्टित नहीं है, वह स्वयं चमत्कारिक है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कलावस्तु के निर्माण में चेष्टित अथवा आयास-सिद्ध कुछ भी नहीं है। निस्सन्देह कविकर्म का बहुत बड़ा अंश चेष्टित है, आयास-पूर्वक सिद्ध होनेवाला है, किन्तु वह अंश उपर्युक्त क्रिया की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। बल्कि छोटे कवि में दोष यही होता है कि जहाँ परिश्रम आवश्यक है वहाँ वह 'प्रतिभा' पर निर्भर करता है और जहाँ 'प्रतिभा' का क्षेत्र है वहाँ आयास-पूर्वक तीव्रता लाना चाहता है। ये दोनों बातें उसकी रचना को 'व्यक्तिगत' बनती हैं और हमारी निर्व्यक्तिक परिभाषा के अनुसार दोष हैं।

व्यक्तिगत अनुभूति की दृष्टि से देखा जाय, तो लेख के इस खण्ड के ऊपर दी गई टी० एस० इलियट की उक्ति से कोई छुटकारा नहीं है--कि कविता निजी अनुभूति की मुक्ति—अभिव्यक्ति—नहीं, वह अनुभूति से मुक्ति है; व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है। यद्यपि, जैसा कि इलियट ने कहा है, इनसे छुटकारा पाने का अर्थ वही समझ सकते हैं जिनके पास अनुभूतियाँ और व्यक्तित्व है।

३

काव्य के लिए महत्व रखनेवाले भावों का अस्तित्व कवि के जीवन या व्यक्तित्व में नहीं, स्वयं काव्य में होता है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति प्रत्येक पाठक समझ सकता है, 'टेकनीक' की खूबियाँ भी अनेक पहचान सकते हैं, जब कि काव्य के निर्व्यक्तिक भाव को परखनेवाले व्यक्ति थोड़े ही होंगे--यह कहने से उपर्युक्त स्थापना खण्डित नहीं होती। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्व्यक्तिक होते हैं। और कवि इन निर्व्यक्तिक भावों का ग्रहण और आयास-हीन अभिव्यंजना तभी कर सकता है जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकलकर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके, अर्थात् जब उसका जीवन वर्त्तमान क्षण ही में परिमित न रहकर अतीत की परम्परा के वर्त्तमान क्षण में भी स्पन्दित हो; जब उसकी अभिव्यक्ति केवल उसी की अभिव्यक्ति न हो जो जी रहा है, बल्कि उसकी भी जो पहले से जीवित है। कवि का जीवन आज में बद्ध नहीं है, वह त्रिकाल-जीवी है।

इन स्थापनाओं से कुछ लोग चौंक सकते हैं। उन्हें लग सकता है कि यह आलोचना का एक नया फैशन भर है, जिसमें सार कुछ नहीं, क्योंकि आधुनिकता केवल परम्परा पर मुँह बिचकाने का ही दूसरा नाम है। इन लोगों से हमारा निवेदन है कि हम परम्परा की अवज्ञा करना तो दूर, परम्परा के महत्व पर आग्रह कर रहे हैं। इस पर आपत्ति किसी को हो सकती है तो उनको जो परम्परा का अस्तित्व ही मिटा डालना चाहते हैं। यद्यपि होनी उन्हें भी नहीं चाहिए।

हम यह कहेंगे कि हमारी स्थापनाओं पर आपत्ति करनेवाले वे ही लोग होंगे जो स्वयं अपनी परम्परा से परिचित नहीं हैं--फिर आपत्ति चाहे परम्परा के नाम पर हो चाहे प्रगति के। क्योंकि ये स्थापनाएँ ऐसी नयी नहीं हैं; हमारे ही शास्त्र का विकास है। कुप्पी नई है, लेकिन आसव पुराना है।

हमारे आचार्यों ने भी रूढ़ियों के अध्ययन पर जोर दिया है। यह भी उन्होंने माना है कि यद्यपि काव्य का सरोकार सभी मानवीय अनुभूतियों से है, साधारण भी और असाधारण भी, तथापि कला की खोज नूतन, अवर्णित और अज्ञात भावों के लिए नहीं है, जैसा कि देश और विदेश के कई आधुनिक कवि समझते रहे हैं। यह भी

उन्होंने प्रतिपादित किया है—प्रत्यक्ष सिद्धान्त के रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष उपसिद्धान्त के रूप में—कि कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं, वे उन भावों के चमत्कारिक योग से उत्पन्न होनेवाले और उनसे भिन्न तत्व हैं। काव्यानुभूति की नूतनता इस योग की नूतनता है। काव्य का 'रस' कवि में, या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में, या किसी शब्द विशेष में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।

प्रगति-पक्ष से भी आपत्ति हो सकती है--कि इस स्थापना द्वारा प्रगति को धक्का पहुँचेगा। लेकिन इस आपत्ति का उत्तर लेख के पूर्वार्ध में है--परम्परा का निकट परिचय उसका अन्धानुकरण नहीं है, बल्कि उसे विकसित करने की तत्परता है।

हम अतीत को मिटाना नहीं चाहते, उसे छोटा भी करना नहीं चाहते, लेकिन हम उसकी दुहाई भी नहीं देते, परास्त होकर उसके आगे झुकते भी नहीं। हम अतीत के प्रति एक नये दृष्टिकोण की माँग करते हैं, वर्त्तमान में उसके स्थान की एक नई परिकल्पना करते हैं, हमारे लिए वयस्कता, शैशवावस्था का खण्डन नहीं है; उससे सम्बद्ध और प्रस्फुटनशील विकास का बोध है। हम परम्परा की एक विकसित परिभाषा करते हैं--कि वह वर्त्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है।

———

पुराण और संस्कृति *

संसार के विभिन्न देशों की भाँति हमारे देश में भी जब-जब देश के शान्त अथवा परम्पराबद्ध सांस्कृतिक वातावरण में किसी बाहरी शक्ति के प्रवेश के कारण हलचल उत्पन्न हुई है, तब-तब देश के जीवन में एक नई सांस्कृतिक जागृति देखने में आई है। एक विशेष सीमा तक यह स्थापित अथवा प्रचलित सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली जागृति थी—क्योंकि बहुधा बाहरी शक्ति एक अधिक बलवान् किन्तु कम विकसित संस्कृति के रूप में ही आती थी, जिसे आक्रमण करनेवाली जाति अपनी नई शक्ति अथवा विजय के दर्पोन्माद में बल-पूर्वक विजित जाति पर आरोपित करना चाहती थी। प्रागैतिहासिक काल में अनेक बार ऐसा हुआ होगा, ऐतिहासिक काल में भी इसके उदाहरण ढूँढ़ते देर न लगेगी। मध्ययुग तक में पश्चिमोत्तर दिशा से आक्रमण की जो अनेक लहरें आईं, उनके साथ ही, सदा ही एक अपेक्षाकृत कम विकसित और सांस्कृतिक जीवन परिपाटी भारत में प्रविष्ट हुई; और कभी-कभी तो आक्रमण-कारियों में उनकी दुर्दम जीवन शक्ति के अतिरिक्त सांस्कृतिक पूँजी के नाम पर कुछ भी न रहा।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस सांस्कृतिक नवचेतन का कारण सदा यह आत्म-रक्षामूलक प्रयत्न नहीं रहता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यह नवचेतन केवल अपनी ही संस्कृति की ओर उन्मुख नहीं रहा; बल्कि दोनों पक्षों ने बड़े परिश्रम के साथ परस्पर विचारों और जीवन परिपाटियों का अध्ययन किया, और उससे भरपूर लाभ उठाया। हम क्षण भर विचार करें कि अकबर के दरबार के मुसलमान विद्वानों में से कितने हिन्दू रीति-नीति, आचार, धर्म, शास्त्र और पुराण के परिज्ञाता थे, और फिर देखें कि आज के कितने मुसलमान विद्वान् आधुनिक हिन्दू परिवृत्ति का उतना गहरा ज्ञान रखते हैं, तो हम आश्चर्य-चकित रह जाएँगे। कोई कह सकता है कि कम संस्कृत जाति का अधिक संस्कृत जाति के विचारों का अध्ययन करना स्वाभाविक ही है; क्योंकि इसके द्वारा वह उसकी विशालतर सांस्कृतिक निधि तक पहुँच सकती है, किन्तु एक तो बाहर से आनेवाली सब जातियों का सांस्कृतिक धरातल एक नहीं था, और यह कहना ठीक नहीं होगा कि जो नीचे थे उन्होंने अधिक ग्रहण किया और जो अधिक संस्कृत थे उन्होंने कम; दूसरे वैसे भी यह युक्ति कितनी अपूर्ण है, इसका प्रमाण

---

* एक मुसलमान मित्र द्वारा लिखी गई 'हिन्दू देवमाला' सम्बन्धी पुस्तक की प्रस्तावित भूमिका के कुछ अंश—लेखक।

भारत में अंग्रेजों की पैठ के समय का अध्ययन करने से मिल सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस समय भारत यूरोप की अपेक्षा कम संस्कृत था। किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज़ अथवा फ्रांसीसी भी न केवल असभ्य नहीं थे, बल्कि सभ्यता और संस्कृति के कई उत्कर्ष देख चुके थे, और उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से हीन युग में से नहीं गुज़र रहे थे। इतना होने पर भी उन्होंने भारतीय जीवन और विचार परिपाटियों के प्रति जो उत्सुकता और ग्रहणशीलता दिखाई, वह उस उदारता और विवेकपूर्ण अध्ययनशीलता से किसी तरह कम नहीं थी, जो उन्होंने बदले में भारतीयों से पाई। निस्सन्देह विदेशियों में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी जिनके लिए सब कुछ—यहाँ तक कि अध्ययन और ज्ञानोपार्जन भी साम्राज्य अथवा अन्य प्रकार की स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र था; और भारतीयों में भी बहुतों के लिए विदेशी रहन-सहन और संस्कृति का परिचय एक स्थूल महत्वाकांक्षा अथवा एक प्रकार की snobbery का परिणाम था जो किसी भी संस्कृति के अत्यधिक विकास के बाद उतार के युग में अभिजातवर्ग में प्रकट होती है। पर हम ऐसे लोगों की बात नहीं करते। मेक्समूलर को साम्राज्य-वृद्धि का निमित्त मानना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना बंगाल के ठाकुर (टैगोर) वंश के बारे में यह कहना कि उनका अध्ययन विदेशियों की दृष्टि में ऊँचा उठने की इच्छा का परिणाम था।

तब इस नवचेतन का कारण क्या रहा? वास्तविक कारण यही रहा है कि पहले सम्पर्क अथवा संघर्ष के युग में दोनों पक्षों के परस्पर सम्बन्ध को नियमित करनेवाली कोई रूढ़ियाँ नहीं रहीं, और इसलिए जहाँ-जहाँ यह सम्पर्क हुआ, घनिष्ठता के साथ हुआ। हमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बीरबल, टोडरमल और खानखाना का पारस्परिक सम्बन्ध आज के पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध से कहीं अधिक घनिष्ठ होता होगा, इसलिए नहीं कि वे एक ही बादशाह के दरबारी थे, वरन् इसलिए कि उनके व्यवहार को सीमित करनेवाली जातीय, सामाजिक अथवा कथित धार्मिक रूढ़ियाँ अभी कड़ी नहीं हो पाई थीं, और शायद बनी भी नहीं थीं। उनका व्यवहार कौतूहल पर आश्रित था, (भले ही उसकी आड़ में विरोध भी रहा हो) आज का व्यवहार मूलतः अनेक प्रकार के निषेधों पर आश्रित है (जब कि विरोध-भावना किसी तरह भी कम नहीं हुई है।)

सन् १८६४ में मूर की हिन्दू देवमाला के संशोधित संस्करण की भूमिका में उसके सम्पादक रेवेरेन्ड सिम्पसन ने लिखा था, 'भारत में यूरोपियनों का जीवन अब अधिकारगत, औचित्यानौचित्य विचार के रूढ़ियों में बँध गया है। अंग्रेजी पारिवारिक जीवन की रीतियाँ भारत में ले आई गई हैं, और उसके साथ-साथ एक पार्थक्य और दूरत्व की भावना भी आ गई है। हम अब शासक हो गये हैं, और सहचर नहीं रहे।

कम्पनी के समय के लेन-देन, षड्यन्त्र और मार-काट के दिनों में यूरोपियन देशी स्वभाव को जितना निकट से देखते और जानते थे, उतना निकट से अब नहीं समझते। ब्राह्मण सेनापतियों के अधीन बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ घुल-मिल जानेवाला यूरोपियन 'लेफ्टिनेंट' अथवा देशी राजाओं के दरबारों की देहरी पर बाट जोहनेवाला नौसिखिया कूटनीतिज्ञ, देशी स्वभाव, रीति-रस्म, और आचार-विचार का अन्तरंग देख सकता था, क्योंकि वह उसकी दृष्टि के आगे निःसंकोच खुला रहता था।' आवश्यक परिवर्तन के साथ यह कथन आज भारत के देशी और विदेशी सभी समाजों के पारस्परिक जीवन पर लागू होता है, क्योंकि आज सभी समाजों की पीठ पर रूढ़ि का भारी बोझ है।

ऐसी परिस्थिति में यह विशेष आवश्यक हो जाता है कि देश के विभिन्न अंगों को अलग-अलग लीकों में पड़कर विच्छिन्न हो जाने से बचाने के लिए प्रयत्न किया जाय। सदियों के साथ रहनेवाले समाज क्रमशः एक दूसरे से इतना परे हट जाँय कि जब एक दूसरे की ओर देखें तब उनकी आँखों में सख्य का आलोक न हो, जिज्ञासा अथवा कौतूहल का आकर्षण भी न हो—केवल घनीभूत अपरिचय और उपेक्षा एक पत्थर की दीवार की तरह बीच में खड़ी हो जाए—यह किसी भी देश के लिए स्वयं एक भारी ट्रेजेडी है; और जब हम अन्य देशों के उदाहरण से देखते हैं, कि यह मौलिक ट्रेजेडी असंख्य महासंकटों की जननी है, तब ऐसे उद्योगों की तात्कालिक आवश्यकता समझ में आ जाती है। बहुत सम्भव है कि ऐसे उद्योग भी सन्देह और आशंका की दृष्टि से देखे जाएँ, किन्तु यह खतरा अपेक्षा में बहुत छोटा है।

[२]

किसी देश के सांस्कृतिक जीवन में देव गाथाओं अथवा पुराण गाथाओं का क्या स्थान होता है या होना चाहिए इस बारे में बहुत मतभेद हो सकता है और है। पिछली सदी से धार्मिक सुधारवाद की जो लहर चली उसके कारण बहुत-से लोग पुराणों को एक गर्हित वस्तु समझने लगे, और अब भी हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपने बच्चों को पुराणों की छाया से उसी तरह बचाकर रखना चाहते हैं—जैसे किसी छूत के रोगी से! यहाँ तक कि रामायण और महाभारत भी वर्जित और अश्लील साहित्य की श्रेणी में रख दिये जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे घरों में भी ग्रीक अथवा रोमन पुराण गाथाएँ वर्जित नहीं समझी जातीं, वेदव्यास के अश्लील समझा जाने पर भी होमर पढ़ लिया जाता है—यद्यपि, जैसा कि मैक्समूलर ने कहा है होमर का काव्य जिन अतिविकसित अथवा जर्जरित पुराण गाथाओं पर आश्रित है उन्हीं का शुद्ध मूलरूप वैदिक गाथाओं में मिलता है। वैदिक गाथाओं में आर्यों के उस सांस्कृतिक प्राग्जीवन का चित्र मिलता है जिसका विकृत रूप हमारे पुराणों में अथवा आर्यों की अन्य शाखाओं के पुराणों में पाया जाता है।

इस धार्मिक सुधारवाद को छोड़ भी दें, तो भी हम देखते हैं कि शिक्षित व्यक्तियों में प्रायः पुराणों के सम्बन्ध में एक अश्रद्धा और जुगुप्सा का भाव आ गया है। मानो वे उस पृष्ठभूमि के लिए लज्जित हैं, जिस पर उनका जीवन पनपा और विकसित हुआ है। यह दृष्टिकोण मेरी समझ में न केवल अवांछनीय है, बल्कि अहितकर भी है। इसलिए नहीं कि मैं पुराणों को धर्म का अंग मानता हूँ, बल्कि इसलिए कि बिना पुराणों के अध्ययन के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता, और इसलिए उस जीवन के प्रति अपना दायित्व भी नहीं निभाया जा सकता। ग्रीक दार्शनिकों ने ग्रीक पुराणों का नया मूल्यांकन किया था तो वे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों की नैतिक, भौतिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या करने लगे थे। उन्होंने देखा था कि पुराणों द्वारा प्राचीनकाल के मनीषियों ने अन्धकारावृत जनता को रूपकों और संकेतों के सहारे शिक्षित करके एक सामाजिक सूत्र में बाँधने का प्रारम्भिक प्रयत्न किया था। यह भी उन्होंने समझा था कि पुराणों के चरित्र बहुधा प्राकृतिक क्रियाओं के काव्यमय मानवीकृत् प्रतिचित्र थे, और पञ्चतत्त्वों ने भी देवरूप ग्रहण कर लिया था। यह भी वे देख सके थे कि कुछ देवता केवल महान् योद्धाओं, राजाओं अथवा ऋषियों के अतिमानवी रूप हैं। इन सभी अवधारणाओं में सत्य का अंश है, और साथ ही जहाँ ये पुराण के धार्मिक महत्व को अस्वीकार करते हैं, वहाँ यह भी सिद्ध करते हैं कि परम सत्य की उपलब्धि के लिए किये गये इन प्रारम्भिक प्रयासों के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। ग्रीक युग का अनेकीश्वरवाद लुप्त हो गया है, परन्तु ग्रीक पुराण की देन को यूरोप का प्रत्येक साहित्यिक आज भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता है।

आज के भारतीयों को तो उपर्युक्त दृष्टिकोण का औचित्य और भी आसानी से स्वीकार कर सकना चाहिये, क्योंकि आज वे पुरातत्व, नृतत्व, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान के नये आविष्कारों से भी लाभ उठा सकते हैं। उन्हें तो आसानी से यह समझ सकना चाहिए कि किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुञ्जी है, कि उसी में समष्टिगत आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं में वे स्वप्नचित्र मिल सकते हैं, जिनका कि विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।

परिस्थिति और साहित्यकार

अबसे पाँच वर्ष पहले एक फ्रांसीसी मित्र से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में बात करते-करते सुननेको मिला, 'देखा है तुम्हारा हिन्दी साहित्य ! नब्बे फ़ी सदी हिन्दी लेखक अपनी बीवी की कहानियाँ लिखते हैं !'

एक और मनचले साथी भी बैठे सुन रहे थे। मज़ाक का अवसर देखकर बोले, 'और बाकी दस ?'

मैंने फ्रांसीसी मित्र पर आक्षेप करते हुए, कुछ कटुता के साथ कहा, 'ये कहेंगे कि बाकी दस फ़ी सदी कहानी अपनी लिखते हैं और छपाते हैं बीवी के नाम से।'

पाँच वर्ष पहले की यह बातचीत आजकल बार बार याद हो आती है···

× × ×

भौगोलिक स्थिति, पूर्व परम्परा, देशीय वातावरण, राजनैतिक प्रगति—बीसियों कारणों ने मिलकर हिन्दी को ऐसी जगह डाल दिया है कि कहना सम्भव है, उसका सितारा उठ रहा है। इस सम्भावना को हमने जैसे दांतों से पकड़ लिया है और यन्त्र-वत् दुहराते जा रहे हैं। जो सम्भावना असन्दिग्ध थी, उसको घटित में बदल देने की नहीं, केवल यन्त्रवत् दुहराने की ही विवशता हमने स्वीकार की है। और यह यन्त्र-वत्ता हमें बांधे ले रही है।

जो पाठक बुद्धिमान है और स्वयं यन्त्रवत् नहीं हो गया है, वह तत्काल देख लेगा कि हम अलंकारिक भाषा में बोल रहे हैं—अतिरंजना कर रहे हैं। लेकिन अति-रंजना परिणाम की नहीं, केवल एक कारण की ही है। निस्सन्देह हमारे यन्त्रबद्धता की ओर बहने का यही आवृत्ति ही एकमात्र कारण नहीं है, और भी अनेक कारण हैं, हमारी सारी प्रगति—हमारे अस्तित्व का ही रुझान यान्त्रिकता की ओर हो रहा है। यह यान्त्रिकता कैसे हमारे जीवन को एक लीक में डाल रही है, और परिणामस्वरूप कैसे जीवन घटिया, और सस्ता, और संस्कृति छिछली और बेजान हो रही है; इसकी पड़ताल हम यहाँ नहीं करेंगे, उसका स्थान दूसरा है *। आधुनिक जीवन की परिस्थितियों और बाध्यताओं का अध्ययन करके हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार उन परिस्थितियों में व्यक्ति सस्ती ही अनुभूतियाँ चाहता या चाह सकता है। इस साधारण स्थापना के साथ हम भारतीय व्यक्ति की आर्थिक और सामाजिक गार्हस्थिक हीनावस्था को ध्यान में रखें, तो दीख जायगा कि क्यों उनकी तृप्ति के साधन और भी घटिया और दूषित

---

* देखिए 'संस्कृति और परिस्थिति'।

होंगे। इससे यह भी समझा जा सकता है कि क्यों अधिकांश भारतीय—या अपने ज्ञान की बातें कहें तो हिन्दी के—साहित्यकार हवाई किलों में रहते हैं और अपने स्वप्नलोकों का आरोप अपने परिवार पर किया करते हैं। अपनी स्त्री का आदर्शीकरण, स्त्री के नाम से कहानियाँ छपाकर 'लेखिका' (= 'संस्कृत') स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति (wish fulfilment)—ये सब प्रवृत्तियाँ इस प्रकार समझी जा सकती हैं। लेकिन ये सब हमारे साहित्य में व्याप्त होनेवाली कुण्ठा का एक ही पहलू हैं, और इस समय हम इस पहलू पर विचार करना नहीं चाहते। यहाँ बाह्य परिस्थिति के दबाव से उत्पन्न हुई मजबूरियों को छोड़कर हम कुछ आन्तरिक अथवा मानसिक परिस्थितियों और उनमें पैदा होनेवाली प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। शायद यहाँ पाठक को शंका हो कि इस विवेचन से फ्रांसीसी मित्र के चुटकुले का क्या सम्बन्ध है, अतः कुछ विश्लेषण करने से पहले विश्लेषण का परिणाम और चुटकुले से उसका सम्बन्ध, एक चौंका देने-वाले वाक्य में भरसक पाठक के आगे रख दिया जाय :

आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिये, लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।

परिणाम से प्रारम्भ करना ठीक नीति नहीं है। ऐसा करने के मूल में यह आशा काम कर रही है कि शायद पाठक चौकन्ना होकर उठ बैठे और आगे के विश्लेषण और स्थापनाओं पर अधिक दत्तचित्त होकर विचार कर सके।

इस भूमिका के बाद आधुनिक हिन्दी लेखक की आन्तरिक परिस्थितियों की ओर बढ़ा जा सकता है।

(१)

हम अपना अध्ययन ऐसे व्यक्ति से आरम्भ करें, जो औसत से कुछ ऊपर है—कुछ ही उपर। जो व्यक्ति औसत से बहुत ऊँचा है, प्रतिभाशाली है, 'जीनियस' है, वह परिस्थिति से नहीं बँधता और कैसी भी शृङ्खला को तोड़कर अनाहत निकल सकता है; लेकिन जीनियस के बारे में कोई स्थापना नहीं की जा सकती। दूसरी ओर औसत से कुछ ऊपर की मेधा पर जोर देना भी आवश्यक है, क्योंकि जो वास्तव में औसत व्यक्ति है वह शायद साहित्य की ओर प्रेरित ही नहीं होगा।

ऐसा व्यक्ति निरा सामूहिक प्राणी—(herd animal)—नहीं है, वह समष्टि का एक अंग होने के अलावा एक सचेतन व्यक्ति भी है। व्यक्तिता का अधूरा भी ज्ञान होते ही उसमें इच्छा होती है कि उसकी रुचियाँ, उसके विचार और दृष्टिकोण, उसकी भावनाएँ, सामाजिक स्वीकृति पाएँ*। यों कहा जाय कि व्यक्ति-ता का अनुभव होते ही

---

* परदेश में आकर कभी व्यक्ति को ऐसा लगता है—जिसे हम 'घर की याद आना' कहते हैं, तनिक उस दौहृद की ओर ध्यान दीजिए। शायद इस प्रकार की घर की याद

उसमें माँग होती है कि वह अपने को एक सन्तोषजनक सामाजिक संगठन अथवा परिवृत्ति का अंग महसूस करे। यहाँ 'सामाजिक परिवृत्ति' का अर्थ समझ लेना चाहिए— कोई व्यक्ति किस दल का अंग है या हो सकता है इसका निर्णय करने के लिए उसकी प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यदि आधुनिक औद्योगिक समाज में से एक व्यक्ति निकलकर अफ्रिका के जंगलों में जा पहुँचे तो वहाँ के ज़ुलू और बांटू समाज के बीच में रहकर भी वह अपने को उससे अलग और किसी दूरस्थ देश के समाज से सम्बद्ध मान सकता है। इसी प्रकार आधुनिक सभ्य-समाज में रहनेवाला एक व्यक्ति अपनी विशेष प्रवृत्तियों या दृष्टिकोण के कारण किसी असभ्य जंगली जाति में ही अधिक अन्तरंग सम्बन्ध का अनुभव कर सकता है। 'समाज' के बजाय 'सामाजिक परिवृत्ति' कहने का यही कारण है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यं'। किसी सामाजिक दल या गुट्ट का सदस्य होने का अभिप्राय केवल खान-पान का भागी होना नहीं, उसमें आचरण और अनुभूति की समानता भी निहित है। वैसे तो कोई भी एक रुचि मिल जाने से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और हर एक दिशा में व्यक्ति अपने को एक सामाजिक संगठन का अंग मान सकता है; लेकिन पूर्णतया सन्तोषजनक वही सामाजिक दल या परिवृत्ति हो सकती है, जो न केवल दैनिक हुक्का-पानी और रोटी-बेटी में साथ दे वरन् अपने सदस्यों की अधिक सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों और कृतियों को भी अपना और परख सके। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति तभी संतुष्ट अथवा स्वस्थ हो सकता है, जब उसका समूचा समाज ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों का हो। अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति को, और उसके समाज को, यह

साधारण सामाजिक जीवन का अंग है। 'घर' से अभिप्राय केवल किसी एक इमारत का नहीं, जीवन के उस समूचे परिचित ढांचे से है--वस्तुएँ, संस्थाएँ, रूढ़ियाँ, इष्टजन—जिसके बीच व्यक्ति रहता है और जिसके साथ उसका व्यवहार पूर्व निर्दिष्ट नियमों के अनुसार संचालित होता है। लेकिन 'घर की याद' आने में भी सबसे अधिक वेदना परिचित व्यक्तियों के लिए होती है। इसीलिए आजकल की सामाजिक परिस्थिति में, जहाँ लोग प्रायः 'अपनों' के बीच से उच्छिन्न होकर अपरिचित स्थानों में रहते और नौकरी करते हैं, ड्राइंग रूम और इस प्रकार की बहुत-सी गैरजरूरी चीजों का महत्त्व बढ़ता जाता है—शायद ऐसे परिचित फर्नीचर के द्वारा लोग उस स्थिरता और निर्विघ्नता का भ्रम पैदा कर लेना चाहते हैं जो 'अपनों' के बीच रहने से मिलती है। आधुनिक नौकरीपेशा लोगों के घरों में बहुत कम ऐसे होंगे, जिनमें आवश्यकता से कहीं अधिक फर्नीचर नहीं होता—और भारतीय ढंग से जिनका सम्बन्ध जितना ही अधिक टूटता जाता है, उतना ही वे उस अनावश्यक बोझ से लदते जाते हैं। अस्तु, इन अनुमानों को छोड़कर मुख्य बात पर आएँ—कि मानव-मात्र के लिए 'अपनों' की आवश्यकता रहती है—यानी मानव-मात्र चाहता है कि अपनी रुचियाँ, अपनी इच्छाएँ, अपने दृष्टिकोण और अपने मनोभाव दूसरों के साथ बटाए और दूसरों से उनके लिए स्वीकृति प्राप्त करे।

स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति की सर्वोत्तम कृतियों की बुनियाद अन्ततोगत्वा उन्हीं मान्यताओं पर कायम है जो समाज द्वारा स्वीकृत हैं। यह स्वीकृति हो तभी वह समाज व्यक्ति के लिये पूर्ण सन्तोषदायी हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इस स्थापना से एक कदम और आगे बढ़ा जाय। यदि हमारा लेखक—वह व्यक्ति जिसे हमने अपने अध्ययन का विषय माना है—ऐसा व्यक्ति है, जिसकी रुचियां और अन्तरंग प्रवृत्तियाँ उसकी सामाजिक परिवृत्ति के साथ मेल नहीं खातीं और उसकी प्रवृत्तियों से सम्बन्ध नहीं रखतीं, तब उस व्यक्ति को समाज से सन्तोष नहीं प्राप्त होता—वह समाज से किसी गहरे सम्बन्ध का अनुभव नहीं करेगा और इसलिए समाज के प्रति आस्था का भाव भी उसमें नहीं होगा।

एक और परिणाम भी इससे निकलता है, यद्यपि उसकी अवधारणा इतनी आसान नहीं है। मान लीजिए कि व्यक्ति अपने को ऐसे सामाजिक दल में पाता है, या अनुभव करता है कि वह ऐसी परिवृत्ति में है, जो रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख है। ऐसे समाज से उसका सम्बन्ध पहले ही अनिच्छापूर्ण और शिथिल होगा, फिर ऐसे समाज को स्वीकृत और चालू मान्यताओं का खण्डन और विरोध करने की, उसके मानदण्डों को तोड़ने और पुनः गढ़ने की प्रेरणा भी विशेष बलवती होगी। जो प्रतिभावान् है, जीनियस है, वह इस परिस्थिति में पड़कर एक हड़कम्प पैदा कर देगा और निर्मम होकर अपना मार्ग निकालेगा, लेकिन जो जीनियस से कुछ भी कम है, उसके लिए ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की जो मौलिक आवश्यकता है, व्यक्ति की व्यक्ति-ता की जो पहली ही माँग है, वह छिप जायगी, कुण्ठित हो जायगी। इससे एक असन्तोष उत्पन्न होगा जो रचना-शील नहीं, जो केवल एक अतृप्ति, एक भूख, एक अस्पष्ट, अशक्त कामना भर होगी—एक दौहृद मात्र—जो ठीक 'घर की याद' के दौहृद जैसा होगा। अंग्रेजी में इसे 'नोस्टेल्जियां' कहते हैं, अर्थात् वापस लौटने का दर्द (nostos, वापस लौटना, algos, दर्द)।

(२)

इस सैद्धान्तिक विश्लेषण से जिन स्थापनाओं पर हम पहुँचे हैं, वे शायद तीव्र विरोध का कारण नहीं बनेंगी। किन्तु इनको प्रयोग में लाने पर भी ऐसी ही स्वीकृति उन्हें मिल सकेगी या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। तथापि सिद्धान्त को यथार्थ की कसौटी पर आंकना तो होगा ही।

हमारा युग संक्रान्ति का युग है। सब ओर परिवर्तन एक नियति-सा हमें खींचे लिये जा रहा है। इस कथन की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं—जिधर भी नजर फिराएँ इसके मुख्य प्रमाण मिल सकेंगे। समाज के संगठन में, राज्य-व्यवस्था में, नीति और आचार में—साहित्य की ओर आएँ तो पाप और पुण्य, ऊँच

और नीच की व्याख्या में, वस्तु और शैली में, तुक और छन्द में—सर्वत्र घोर परिवर्त्तन हो रहा है। अतएव जीवन का दबाव व्यक्ति के मन पर बहुत बढ़ गया है। भौतिक जीवन पर यान्त्रिक संगठन का, और आन्तरिक जीवन पर इस तीव्र परिवर्त्तन का— इस दुहरे दबाव के नीचे आज के व्यक्ति की स्थिति शान्तिजनक नहीं है— विशेषतया वैसे व्यक्ति की जिसको हमने अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। भारतीय साहित्यिक पाता है कि उसके आसपास सब कुछ बदल रहा है, जो मान्यताएँ ध्रुव-सी अटल मानी जा रही थीं वे सब सहसा सन्दिग्ध हो उठी हैं। इस डगमग स्थिति में, आमूल परिवर्तन की लहर से सहसा हतबुद्धि होकर वह किसी आश्रय की, किसी आड़ की, 'घर' की खोज में विह्वल हो उठा है। या फिर कभी ऐसा भी हुआ है कि वह स्वयं अपने को ही अपने समवर्त्तियों से भिन्न पाता है—अनुभव करता है कि वही बदल गया है, तीव्र जीवनानुभव के दबाव ने उसे तो गति दी है, पर उसके आसपास का समाज अचल है, जड़ है, गतिहीन खड़ा है। दोनों स्थितियों का असर एकसा होता है— व्यक्ति 'बिनपानी की मछली' सा महसूस करता है, अनुकूलता के लिये छटपटाता है, 'सन्तोषजनक सामाजिक दल' की मांग करता है– 'घर लौटना' चाहता है।

न्यूनाधिक मात्रा में यह क्रिया सभी देशों में और सभी कालों में होती रहती है। लेकिन शान्ति और समृद्धि के वातावरण में यह उतनी तीखी और स्पष्ट नहीं होती। हमारे देश की आधुनिक अवस्था में यह अनुकूलता की, सन्तोषजनक सामाजिक परितृप्ति की माँग दुस्सह हो उठी है।

इस माँग के कुण्ठित हो जाने से जो दौर्हृद, जो क्लान्त अतृप्ति पैदा होती है, वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है।

आज का हिन्दी साहित्य प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य है।

[३]

निस्सन्देह उपर्युक्त स्थापना एक भोंडी और अतिव्याप्तिदोष-पूर्ण स्थापना है। यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशेष परिस्थिति में अनिवार्य रूप से ऐसी प्रतिक्रिया होगी। किसी लेखक को सन्तोषजनक सामाजिक परितृप्ति क्यों नहीं प्राप्त होती, क्यों वह व्यक्ति की मौलिक सामाजिक मांग पूरी नहीं कर सकता, यह समझने के लिये केवल उसके समय की नहीं, उसके व्यक्ति-जीवन की भी पृथक् छानबीन करनी होगी। क्योंकि, जैसे यह आवश्यक नहीं है कि यह माँग अपने निकटवर्त्ती समाज द्वारा ही पूरी हो, इसी तरह यह भी आवश्यक नहीं है कि इसके लिये किसी समकालीन सामाजिक दल की ही अनिवार्य आवश्यकता हो। ऐसा सर्वथा सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी रुचियों और इच्छाओं और कृतियों के लिये स्वीकृति (sanction) अपने समकालीनों से नहीं; किसी बीते युग में चालू मानदण्डों और मान्यताओं के आधार पर

पा ले। * ऐसी दशा में वह आजकल के लोगों के लिये एक 'अजायबघर का नमूना' होगा, लेकिन अपने में वह सन्तुष्ट और सम्पूर्ण होगा ; अतृप्ति का दौर्हृद, अनुकूलता की, 'घर' की मांग उसमें नहीं होगी।

ऊपर एकाधिक बार कहा गया है कि व्यक्ति अपनी रुचियों और इच्छाओं के लिए समाज की 'स्वीकृति' चाहता है। 'स्वीकृति पाने' का ठीक अभिप्राय क्या है, महत्त्व क्या है ? स्पष्ट है कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने का महत्त्व तभी है, जब कि स्वीकृति न मिलने का परिणाम भी उतना ही महत्त्व रखता हो। समाज द्वारा अस्वीकृत होना, अनादृत होना, बहुत बड़ी बात हो, तभी तो स्वीकृति और समादर महत्त्व पायेगा ? इससे यहाँ स्पष्ट है व्यक्ति को स्वीकृति पाने के लिए किसी हद तक समाज की या उसकी मान्यताओं की ओर ध्यान देना पड़ेगा। वह किसी व्यक्ति के, या किसी दल के या नियम के आगे झुके न भी, तो भी यह तो उसे मानना ही होगा कि अन्य व्यक्तिगत अनुभव और दल का समष्टिगत अनुभव, उसकी निजी अनुभूति के साथ गहरा सम्बन्ध रखते हैं और उसका मूल्य आंकने के लिए अवश्य विचारणीय हैं। इस प्रकार समष्टिगत अनुभव, अर्थात् दल अथवा जाति की परम्परा व्यक्ति के लिए मान्य नहीं तो प्रासंगिक और विचारणीय अवश्य होती है। अपनी अनुभूति को जातिगत या समूहगत अनुभवों पर जाँचते-जाँचते व्यक्ति का व्यक्तित्व क्रमशः पुनर्निर्मित होता चलता है, और उसमें सामाजिक मान्यताओं और परम्परा तथा संस्कृति की भावना अधिक गहरी होती चलती है। (ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपनी अनुभूति को समाज की अनुभूति पर घटित करता चलता है, अपनी अनुभूति को उसके प्रकाश में देखता चलता है, त्यों-त्यों उसका वह अंश, जिसे वह अभिन्नतम अपना, मौलिक, विशिष्ट, अभूतपूर्व समझता है, छोटा होता चलता है। छोटा होने के साथ-साथ वह अधिक महत्त्वपूर्ण भी होता चलता है, क्योंकि वह व्यक्ति की मौलिकता का घनीभूत रस है, व्यक्तित्व का प्राणवायु है) यही-अंश है जो परम्परा के अनुकूल अपने को नहीं बनाता वरन् पूर्ण स्वीकृति चाहता है। वह परम्परा को गढ़ता है, उसे विकसित और विवर्धित करता है। अभिन्नतम व्यक्तिगत अनुभूति से समूह का अनुभूति-पुञ्ज अधिक समृद्ध और गहरा होता है। वही व्यक्ति की देन है।

तो एक विशेष सीमा तक व्यक्ति समाज के अनुकूल अपने को गढ़ता है—स्वीकृति पाने का यह मूल्य वह चुकाता है। उसके बाद, जब व्यक्ति का मर्म छुआ जाता है,

* परम्परा का, संस्कृति का महत्त्व यहाँ स्पष्ट हो जाता है। इसी लिये संस्कृति की ओर उन्मुख होनेवाले लोग प्रायः रूढ़िवादी हो जाते हैं—अतीत की मान्यताओं द्वारा अपनी जीवनचर्या को सिद्ध करने में यह खतरा रहता ही है। ऐसा होना अनिवार्य कदापि नहीं है—संस्कृति का महत्त्व ठीक समझने पर वह गतिदायिनी ही होती है, गतिनाशिनी नहीं।

तब वह आहत होकर विद्रोह या चीत्कार कर उठता है। किसी भी लेखक में यदि कुछ भी अंश ऐसा विशिष्ट है, तब एक सीमा ऐसी अवश्य होगी, जिस पर पहुँचकर वह डी० एच० लरेंस की तरह फुफकार उठेगा—

You say I am wrong.
Who are you, who is any body to say I am wrong ?
I am not wrong. *

लरेंस तो कहीं भी 'अनुकूल' होने को तैयार नहीं था, बिना प्रतिदान किये अपना समूचा व्यक्तित्व ज्यों-का-त्यों स्वीकृत कराना चाहता था; पर उतना उग्र न होकर भी महत्त्वपूर्ण लेखक को ऐसी मनोवृत्ति 'रिजर्व' में तो रखनी ही होगी। कहना चाहिए कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लेखक अग्निगर्भ होता है; बुद्ध के बोधिसत्त्व होते हैं, तो महान् लेखकों को भी अनिवार्य रूप से विद्रोहसत्त्व होना चाहिए।

[४]

सिद्धान्त की इस दूसरी स्थापना के बाद फिर हमें यथार्थ की ओर लौटना चाहिए। लेकिन इससे पहले एक बात स्पष्ट कर लेनी होगी। यदि व्यक्ति में एक विशिष्ट स्वत्त्व है—और हमने सिद्ध किया है कि महत्त्व का अंश वही है—तब उसमें अनुकूलता की माँग भी होगी ही, सन्तोषजनक सामाजिक परिवृत्ति न मिलने की कसक भी होगी ही—तब क्या हम फिर उसी भोंडी अतिव्याप्ति की ओर लौट आए? क्या परिणाम यह निकला कि सभी अच्छा साहित्य अनिवार्य रूप से अतृप्ति का साहित्य होगा?

इसके उत्तर में यह कहना चाहिए कि अतृप्ति का अनुभव तो निस्सन्देह प्रत्येक अच्छे लेखक को होना ही चाहिए। बल्कि, यदि किसी आधुनिक लेखक में इस माँग की सम्पूर्ण अनुपस्थिति दीख पड़े, तब उसी के बारे में शङ्कित होना चाहिए—क्योंकि इस अनुपस्थिति से यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि उस लेखक ने या तो आज के अर्थ-पिशाचों के स्वार्थों के साथ अपने को मिला लिया है, या अपने को किसी पंडिताऊ दल के संकुचित दायरे का कूप-मण्डूक बना लिया है, या गुट्टबन्दियों में उलझा लिया है—साधारण रूप से यह समझ लेना चाहिए कि परम्परा को जाँचने-परखने की वृत्ति, जीवन के प्रति सतर्कता, उसमें बिलकुल नहीं है। किन्तु दूसरी ओर यदि लेखक की रचनाओं का स्थायी भाव ही यह 'घर लौटने की माँग' है, तब उसे भी जीवन से पराजित, असमर्थ और असफल लेखक समझना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों के

* तुम कहते हो कि मैं गलती पर हूँ।
कौन हो तुम, कौन है कोई भी मुझे यह कहनेवाला कि मैं ग़लती पर हूँ?
मैं गलती पर नहीं हूँ।

जीवन में गहरा देखने से हम प्रायः यह पायेंगे कि सामाजिक दबाव का प्रतिरोध करने में अविवेक से वह दौर्हृद, वह स्थायी कुण्ठितावस्था उत्पन्न होती है। निस्सन्देह यह निर्णय बहुत कठिन है कि कहाँ तक परम्परा के आगे झुका जाय और कहाँ प्रति-घात के लिए तैयारी की जाय, विनय और पराजय के सूक्ष्म भेद को निरन्तर देखते रहने की, अपने समीक्षकों की समीक्षा करते रहने की, अचूक योग्यता एक महान निधि है। और यह भी है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक बलशाली और समर्थ हो उतना ही अधिक उसमें रूढ़ि और परम्परा और समाज के विरुद्ध विद्रोह कर उठने की अधीरता होगी—विवेकपूर्ण विनय उतना ही कठिन होगा! लेकिन विनय और आत्मगौरव का यह सूक्ष्म सामञ्जस्य जहाँ स्थापित नहीं हो सका है, वहाँ आश्रय की माँग एक स्थायी लालसा बनकर जम जायगी और उसकी कुण्ठा उस लेखक के साहित्य में छायी रहेगी।

इस प्रकार हम यह स्थापना कर सकते हैं कि यद्यपि अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक आधुनिक लेखक में होना चाहिए, तथापि उसकी रचनाओं का महत्त्व आँकने के लिए यह देखना चाहिए कि अन्ततोगत्वा अपनी इस अनुभूति के प्रति उसकी स्थिति क्या है। यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्य-पूर्वक अपनी आन्तरिक माँग का सामना किया और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएँ जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएँ महान् साहित्य बन सकेंगी। यदि उसकी आलोचक बुद्धि क्षीण हो गई है, यदि वह अपनी आन्तरिक माँग को न समझता हुआ केवल उसमें बहा है, यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावनाएँ जगाई हैं, तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी। किसी अपरिचित को देखकर बच्चे की यह वृत्ति होती है कि माँ का आंचल खोजे और उसके भीतर दुबक जाय, उसे मुँह पर तान ले। इस सहज क्रिया पर करुणा आ सकती है, वह आकर्षक भी हो सकती है; लेकिन यह चेष्टा वयस्क मानव के लिए अशोभन है। जिस आश्रय की अथवा अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की माँग की चर्चा हमने की है, वह भी एक ऐसे ही 'माँ के आँचल' की माँग है। इस माँग की प्रतिक्रिया शिशु में और प्रौढ़ व्यक्ति में एक-सी नहीं होगी, न होनी चाहिए। उपर्युक्त स्थापना को इस तरह भी कहा जा सकता है कि यदि लेखक की प्रतिक्रिया प्रौढ़ है, तभी वह सत्साहित्य की रचना कर सकता है। नहीं तो वह कितनी भी सुन्दर शब्द योजना करे, 'माँ के आँचल' के भीतर कितने ही मधुर स्वप्न देखे, कल्पनालोक खड़े करे, अन्ततः उसका सारा प्रयास बाहर के उस विकराल अपरिचित 'कुछ' की अनदेखी कर जाने का प्रयत्न है, एक शैशवोचित चेष्टा है।

[५]

अब, हम समझते हैं, हमें अधिकार मिल गया है कि इन स्थापनाओं के आधार पर हम आधुनिक साहित्य के बारे में कुछ 'तुक्के' चलाएँ। सबसे पहले प्रेमचन्दजी को लिया जाय। हमारा अनुमान है कि 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' के अन्त में जिस सदन और आश्रम की उद्भावना की गई है, वे ठीक वैसा ही 'आश्रय' खोजने का प्रयत्न हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। (निस्सन्देह प्रेमचन्दजी में अपने समाज की त्रुटिपूर्णता, 'अपर्याप्तता' की भावना तीव्र थी, और फलस्वरूप मनोनुकूल समाज की माँग उतनी ही प्रबल। हमारा अनुमान है कि आरम्भ में वे इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं देखते थे, और इसीलिए 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' के 'यथार्थवाद' में wishful thinking का एक हल्का-सा परदा है – दोनों में जो संस्थाएँ समस्या के हल के रूप में पेश की गई हैं, वे वास्तव में तर्कसिद्ध सुधार-चेष्टा का परिणाम नहीं, एक अस्पष्ट अपर्याप्तता को पूरने के लिए खड़े किए गए स्वप्न हैं—'युटोपिया' हैं।)

यह प्रेमचन्द की निन्दा नहीं है। हम ऊपर कह आये हैं कि आधुनिक युग में ऐसी लालसा या वेदना का न होना ही शंकनीय है; हाँ, यह भाव स्थायी नहीं होना चाहिए। और हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी में ऐसे युटोपिया रचने की वृत्ति क्रमशः कम होती गई है। 'गोदान' में वह सर्वथा लुप्त हो गई है—'गोदान' में भी दोष हैं—उसका उच्चवर्ग वैसा यथार्थ और विश्वासोत्पादक नहीं है जैसा कि कुछ विदेशी लेखकों का (उदाहरणतया गॉल्सवर्दी का फारसाइट परिवार), 'गोदान' में होरी ही यथार्थ है, न कि मेहता। लेकिन यह दोष या तो परिचय को कमी का परिणाम है, या 'व्यक्ति' की बजाय 'टाइप' रचने की वृत्ति का,* 'इच्छित-विश्वास' या 'आश्रय की माँग' का नहीं। वह दोष सुधारक का दोष है, यथार्थ से पलायमान 'शुतुर्मुर्ग' का नहीं। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि प्रेमचन्दजी निरन्तर साहस-पूर्वक यथार्थ की ओर अग्रसर होते रहे और विजयोन्मुख रहे।

जैनेन्द्रकुमार में भी हम उपर्युक्त क्रिया के उदाहरण पा सकते हैं। 'परख' के भावाक्रान्त आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के बाद 'सुनीता' जैसे समस्या-उपन्यास की रचना जिसकी समस्या यथार्थ-जीवन की नहीं, सम्पूर्णतया कल्पित (hypothetical) है और जिसे व्यञ्जित करनेवाले पात्र भी यथार्थ नहीं संश्लिष्ट (synthetic) और काल्पनिक (hypothetical) हैं—एक बौद्धिक व्यायाम भी समझी जा सकती, यदि उसके बाद फिर लेखक यथार्थ की ओर उन्मुख न होता। लेकिन 'सुनीता' की विशुद्ध टेकनिकल

* जो कि सुधारक में अधैर्य के कारण प्रायः ही आ जाती है, जैसे 'सुदर्शन' जी में, जिनके पात्र प्रायः सभी 'टाइप' होते हैं, व्यक्ति नहीं, क्योंकि वे एक नैतिक स्थापना के अनुगामी, अधीन होकर आगे आते हैं।

विजय भी इशारा करती है कि लेखक की मानसिक प्रगति में कहीं कुछ अटक उत्पन्न हो गई है। उसके बाद जब हम उन्हें क्रमशः अधिकाधिक काल्पनिक—अथवा कि दार्शनिक—तत्त्वों के निरूपण के लिए और भी अधिक काल्पनिक पात्रों की सृष्टि करता पाते हैं, तब वह शंका पुष्ट होती है। निस्सन्देह जैनेन्द्रकुमार की रचनाओं में कथावस्तु अथवा पात्र की उद्भावना के पीछे उनका जीवन-दर्शन भी है, निस्सन्देह उनके अनेक काल्पनिक पात्र वास्तव में प्रतीक-पुरुष हैं, जिनके निमित्त से वे नीरस बुद्धिवाद के विरुद्ध आस्था के, विश्वास के, श्रद्धा के विद्रोह (या कि प्रति-द्रोह ?) के अपने जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करना चाहते हैं। और हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आज के युग में विश्वास कायम रख सकना ही एकमात्र आशासूत्र है। पर उनका बुना हुआ झिलमिल ताना-बाना सब का सब 'आदर्शवाद' नहीं है; और अनेक स्थलों में वह केवल-मात्र वही आश्रय की माँग का मोहक आवरण है जिसमें सुन्दर स्वप्न-रङ्ग भरे गए हैं। कहीं उनकी रचनाओं में झलकनेवाली अतृप्ति सत्यान्वेषी* की स्वाभाविक उलझन या घबराहट है, लेकिन सर्वत्र ऐसी बात नहीं है—अनेक स्थलों पर एक दूसरी चीज को झूठा गौरव दिया गया है, रचना को किसी ऐसे अबोधगम्य, अलौकिक सत्य की ओर संकेत करनेवाला दिखाया गया है जो वास्तव में उससे ध्वनित नहीं होता, उसके पीछे है ही नहीं। 'नीलमदेश की राजकन्या' में राजकन्या का अकारण 'सूना-सूना' अनुभव करना, कुछ चाहना—'कुछ वह कि जाने क्या !'—इन सब अस्पष्ट, आकार-हीन चाहनाओं में किसी चिरन्तन की पुकार' की ध्वनि नहीं है, ये किसी दिव्य सम्बन्ध के संकेत नहीं हैं, यह सीधी-सीधी एक पर्याप्त, अनुकूल, तोषप्रद सामाजिक परितृप्ति की माँग है। वयःसन्धि-प्राप्त राजकन्या की अज्ञात लालसाओं, 'प्रतीक्षाओं', राजकुमार की कल्पनाओं द्वारा लेखक नारी-जीवन का कोई गूढ़ सत्य, या नारी के धर्म अथवा स्वभाव के बारे में कोई दार्शनिक दृष्टिकोण, या आत्मा और परमात्मा के रहस्यमय सम्बन्ध का कोई संकेत, नहीं पेश कर रहा है। ऐसी ध्वनि अगर उसमें है, तो वह आरोपित है, लेखक द्वारा या पाठक द्वारा हेतुवाद का परिणाम है। नहीं तो 'नीलमदेश की राजकन्या' आश्रय की माँग का शुद्ध नमूना है।

यह कहना मूर्खता होगी कि यह वस्तु जैनेन्द्रकुमार की रचनाओं में स्थायी रूप से जम गई है। निजी परिचय के आधार पर कोई यह भी कह सकता है कि उन जैसा जिज्ञासु और अन्वेषी व्यक्ति यहीं तक आकर अटक नहीं जायगा, आगे भी बढ़ेगा। उदाहरण के रूप में 'त्यागपत्र' का भी उल्लेख हो सकता है। हम उसके दृष्टिकोण से

---

* हिन्दी गल्प-साहित्यिक क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार शायद सबसे अधिक प्रयोगशील लेखक हैं—वस्तु में भी और शैली में भी उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं जो सफल चाहे हुए हों चाहे नहीं, साहित्य में अपना एक स्थान रखेंगे।

सहमत न हों, नारी की परिकल्पना हम दूसरे रूप में करें, लेकिन 'त्यागपत्र' में एक विशेष दृष्टिकोण है अवश्य, उसमें जैनेन्द्रकुमार का दर्शन है, उनके विचार का फल है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से देखा जाय तो कुण्ठा उस दर्शन में भी है, वह दर्शन किसी विशेष दिशा में कुण्ठित हुए व्यक्ति का ही दर्शन है, लेकिन ऐसी बात किस दार्शनिक के बारे में नहीं कही जा सकती? यहाँ हमें इसी से मतलब है कि वह कुण्ठा 'पर्याप्त, तोषप्रद सामाजिक परिवृत्ति की माँग' की कुण्ठा नहीं है। हो सकता है कि 'त्यागपत्र' के लेखक ने इसको समझकर उसके प्रति ठीक दृष्टिकोण अख्तियार कर लिया हो—स्वीकृति का नहीं, युयुत्सा का भाव उनमें जागा हो। यदि ऐसा हुआ है, तब इस माँग का अनुभव कर चुके होने से उनकी रचना में गहराई ही आएगी।

श्रीमती कमला चौधरी की कहानियों में इस तरह की माँग और भी स्पष्ट है। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि कुछ कहानियों को छोड़कर शेष की बुनियाद ही इस पर है। और यह नहीं कि यह माँग प्रतिपाद्य विषय है*—वैसा होता, तब तो शायद वे तटस्थ हो सकतीं—बल्कि लेखिका की रचनाओं की मूल प्रेरणा ही यह है। एक बार फिर कहना होगा कि ऐसी माँग का अनुभव करना ही कोई दोष नहीं है, वह केवल इस बात का संकेत है कि व्यक्ति अपने समाज से तृप्त और तुष्ट नहीं हो रहा है। लेकिन कमला चौधरी की रचनाओं में इस माँग की अपूर्ति का विरोध करने को, सामाजिक परिवृत्ति से लड़ने अथवा उसे बदलने की इच्छा प्रायः कहीं नहीं झलकती, केवल माँग के खण्डित हो जाने से उत्पन्न होनेवाला धूमिल असन्तोष, घर लौट चलने की चेष्टा ही उनमें अभिव्यञ्जित होती है। जिस समाज से आत्मा को तृप्ति नहीं मिली, उससे सम्पूर्णतया विमुख होकर एक काल्पनिक घर की अस्पष्ट चाहना करती हुई आत्मा का प्रतिबिम्ब—साहित्य-स्रष्टा का सम्पूर्ण पलायन—ही उनकी कहानियों से लक्षित होता है।

यदा-कदा महादेवी वर्मा की कविता में भी इस माँग के लक्षण मिलते हैं। यद्यपि वे उस श्रेणी में हैं, जो किसी-न-किसी तरह का सामञ्जस्य पा चुकी हैं, तथापि उनकी कविता निरपवाद रूप से रहस्यवाद की कविता नहीं है। हम केवल रोमांटिक झलक की बात नहीं कहते, हमारा अभिप्राय यह है कि उसमें भी कहीं-कहीं वैसी ही अस्पष्ट

---

* इसे स्पष्ट करना इसलिये जरूरी है कि आजकल के हिन्दी आलोचक बहुधा इस भेद को भूल जाते हैं और कथा के पात्र की बातों या हरकतों का आरोप लेखक पर करते हैं। इस माँग का चित्रण करनेवाला स्वयं माँगनेवाला हो भी सकता है, पर अनिवार्य रूप से नहीं है; हिस्टीरिया का वर्णन करनेवाला स्वयं हिस्टीरिकल हो भी सकता है पर अनिवार्य रूप से नहीं है; वैसे ही, जैसे विवाह का वर्णन करनेवाला स्वयं विवाहित हो भी सकता है, पर अनिवार्य रूप से नहीं।

अकारण व्यथा है जो स्वयं अन्त है, किसी अधिक गहरी या व्यापक क्रिया का संकेत नहीं। 'घर आने' पर जो विशेष मनःस्थिति हमारी होती है—जो अकारण व्यथा-सी मन में होती है, जो दौर्हृद पैदा होता है; कविता में भी वैसी वेदना को उसी कारण उत्पन्न हुआ जानना चाहिए, वह भी केवल तोषप्रद परिवृत्ति की, 'घर लौटने की' माँग है, किसी रहस्यमय इष्ट-पुरुष की अलौकिक विरह वेदना नहीं। ध्यान रहे कि ऐसी झलक महादेवी वर्मा की कविता में यदा-कदा मिलती है, व्यापक नहीं है।

'बच्चन' जी की कविता में भी—

संघर्ष से टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ,
कितना अकेला आज मैं।

आदि पद्यों में इस माँग का संकेत बिलकुल स्पष्ट है—'एकान्त सङ्गीत' तो प्रायः निरपवाद रूप से संघर्ष में कुण्ठित, 'परिवार से छूटा हुआ' होने की भावना से ओत-प्रोत विषण्ण हृदय का आर्त्तनाद है।

अन्य अनेक सम्भव उदाहरण न देकर हम संक्षेप में सियारामशरण गुप्त की ओर ध्यान खींचकर 'प्रसाद' की ओर बढ़ेंगे, क्योंकि उनके काव्य से हमें एक और सिद्धान्त की उपलब्धि करनी है—

सियारामशरण गुप्त भी उन सूक्ष्मानुभवी कवियों में से हैं, जिनसे यह अपेक्षा नहीं हो सकती थी कि वे अपनी सामाजिक परिवृत्ति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेंगे; उसे अपर्याप्त, अतोषप्रद नहीं पाएंगे। उन्होंने रूढ़ि का काफी सम्मान किया है, लेकिन अन्त में वे भी उस सीमा पर पहुँच गए हैं, जिसके आगे समाजानुकूलता शक्य नहीं है, क्योंकि उससे व्यक्ति के मर्म को आघात पहुँचता है। उनकी कविता में कवि का आहत मर्म बोलता है। लेकिन आहत होने के डर से वह घोंघे के वासी की तरह एक जड़ आड़ के भीतर छिप नहीं गया है। समाज को अपर्याप्त पाकर, अपने अभीप्सिततम मर्म के लिए समाज से 'स्वीकृति' न पाकर इस कवि ने अनुकूल परिस्थिति की कल्पना तो की है, उसकी इच्छा की तीव्रता का अनुभव भी किया है, 'पथ' जैसी कविताओं में ऐसा स्वप्न भी देखा है कि जाने चलते-चलते उस स्वप्नलोक तक भी कभी पहुँचा जा सके, जहाँ के समाज से स्वीकृति बिना माँगे मिल जाय! किन्तु ऐसी लालसाओं और मरीचिकाओं ने उन्हें भुलाया नहीं है। उनकी आत्मा ने कर्मण्यता की ही प्रेरणा पाई है। यह ध्वनि उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलेगी। उनके लिए आत्मा चिर यात्री है, पर उसके पथ पर चलना है, भागना नहीं। स्वप्नों का, आदर्शों का, पाथेय सच है, तो पथ की धूल और काँटे भी झूठ नहीं हैं।

'प्रसाद' की कविता की— कविता ही क्यों, उनकी सब रचनाओं की—जाँच करते समय हम अनुभव करेंगे कि जिन सिद्धान्तों की स्थापना हमने अब तक की है, वे पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि 'प्रसाद' भी किसी भिन्न लोक की कल्पना करते हैं, वे भी गाते हैं—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेमकथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे!

लेकिन वहाँ बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी इस परिकल्पना में और—उदाहरण के लिए—कमला चौधरी की 'साधना का उन्माद' की नायिका साधना की अस्पष्टतया अभीप्सित परिस्थिति में एक मौलिक भेद है। वह भेद क्या है, यह समझने के लिए हमें फिर सिद्धान्तों की थोड़ी खोजबीन करनी होगी।

[६]

'प्रसाद' के उपर्युक्त उदाहरण में एक कल्पित देश की ओर जाने की लालसा दीखती है। लेकिन यह कहना कठिन है कि यहाँ लालसा 'तोषप्रद, अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की माँग' के खण्डित हो जाने से, अपनी प्रौढ़ और विकसित रुचियों के लिए सामाजिक स्वीकृति न पाने की कुण्ठा से ही उत्पन्न हुई है। बल्कि इससे यह अनुमान होता है कि कवि इन प्रौढ़ विकसित, उलझी हुई, आधुनिक रुचियों या मनःस्थितियों को ही छोड़कर एक सरल और अधिक सुखद जीवन-प्रणाली की ओर जाना चाह रहा है, जिसमें व्यक्ति की आवश्यकताएँ कम, और उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत सुगम हो। हमारे जीवन का ढङ्ग ज्यों-ज्यों अधिक विकास पाता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक गूढ़ और उलझा हुआ होता चलता है; यह स्वाभाविक है किन्तु यहाँ नूतन स्थिति श्रमसाध्य होती है और इस श्रम से भागने की—पुरानी और सरलतर जीवन-प्रणाली अपना लेने की— प्रवृत्ति भी स्वाभावतया उदित होती है। इसमें और ऊपर वर्णित प्रवृत्ति में भेद है। निस्सन्देह ये दोनों प्रवृत्तियाँ बहुधा साथ-साथ भी देखने में आती हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति ने अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति, सामाजिक स्वीकृति नहीं पाई है और जो इस कारण खण्डित हो गया है, उसमें इस दूसरी प्रकार की पलायन चेष्टाएँ भी अधिक तीव्र होंगी। उदाहरणतया जैनेन्द्रकुमार का 'अबुद्धिवाद' आधुनिक बौद्धिक उलझन से पलायन का परिणाम है। साहित्य से बाहर की बात कहें, तो गांधीवाद का आर्थिक दर्शन आधुनिक जीवन की उलझन से बचकर एक पुरानी, अधिक सरल, आयास-हीन जीवन-चर्या की ओर जाने की, आधुनिकता के दबाव से पलायन की, चेष्टा से अनुप्राणित है। यदि यह बात पाठक को अप्रासङ्गिक लगे, तो हिन्दी साहित्य से और उदाहरण

मिलेंगे। 'प्रसाद' की रचनाओं—काव्य और नाटक—में जिस काल की कल्पना की गई है, उसमें रचयिता की दिलचस्पी केवल इतिहासवेत्ता की दिलचस्पी नहीं है, उस दिलचस्पी की आड़ में एक लालसा भी है। (यहाँ हम दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का एक और भी सम्बन्ध देख सकते हैं—अतीत के किसी युग में जाने की लालसा में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं—पलायन की इसलिए कि वह अतीत आज की कठिनाइयों से मुक्त था, अतृप्ति की इसलिए कि 'आज की कठिनाइयाँ' प्रायः अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की अनुपस्थिति से सम्बन्ध रखती हैं।) राजनैतिक (अथवा आर्थिक) जीवन में 'रामराज्य' की कामना, और साहित्य में प्रसाद के नाटक अथवा काव्य में चित्रित युग की कामना, दोनों एक ही प्रकार की प्रतिगामी (regressive) चेष्टाएँ हैं, दोनों आज के यथार्थ की उलझन से बचने के लिए 'कल' का सरल जीवन-संगठन चाहती हैं।

कुछ आगे बढ़कर देखें तो मृत्यु का 'चिर-निद्रा' अथवा 'मुक्ति' रूप में आह्वान और स्वागत करना भी इस पलायन-चेष्टा का एक रूप है। इसकी मूल प्रेरणा यह नहीं है कि आगे बढ़कर मृत्यु का सामना किया जाय, मूल प्रेरणा यह है कि ऐसी अवस्था को लौट जाया जाय जहाँ प्रयास नहीं है—'तज कोलाहल की अवनी रे'—ऐसी अवस्था, जो शायद मातृगर्भ में ही मिलती है, उसके बाद मृत्यु तक नहीं। यथार्थ यदि असह्य हो, तब जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसको तर्क की चार सीढ़ियों में व्यक्त किया जा सकता है :—

(१) यथार्थ असह्य है, और उससे पीड़ा हो रही है।

(२) यथार्थ की अनुभूति से ही वह पीड़ा होती है।

(३) चेतना धर्म ही है यथार्थ की अनुभूति।

अतएव (४) उस अनुभूति से मुक्ति पाने के लिए चेतना से मुक्ति पाना अनिवार्य है। *

इस प्रकार यथार्थ के दबाव से पलायन की दिशा स्पष्टतया यह होगी कि चेतना जड़ हो जाय और हम उससे पहले की किसी अवस्था को प्राप्त कर लें। † इसका

---

* यह न समझा जाय कि व्यक्ति सचमुच ऐसी तर्कना करके परिणाम निकालता है। हम स्वाभाविक पलायन चेष्टा का क्रमिक विकास दिखाने के लिए यह सीढ़ी बना रहे हैं—यह तर्क-परम्परा व्यक्ति के चेतन मन में नहीं आती।

† वयःसन्धि में लोग जो कहानियाँ लिखते हैं, उनका अन्त प्रायः नायक-नायिका की आत्महत्या द्वारा होता है; यह वयःसन्धि-काल में प्रौढ़ता के कटु दायित्व से पलायन की ही चेष्टा है। इसीलिए इस सन्धिकाल में सभी लेखक प्रायः एक-सी रचना करते हैं। चिन्तनीय अवस्था वह होती है, जब व्यक्ति इस सन्धिकाल से आगे बढ़ने से इन्कार कर दे—

परिणाम या तो मृत्यु के स्वागत का रूप लेगा,* या फिर शैशवावस्था के आह्वान का।

किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया,
जब उठा हो भार जीवन
तब लगाया ओठ प्याला।

—बच्चन।

रूपसि तेरा घन केश पाश !
इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अंगों में भर विशाल
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
दुलरा देना बहला देना
यह तेरा जग-शिशु है उदास !

—महादेवी वर्मा।

इन बातों को ध्यान में रखकर इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों में भेद किया जा सकता है। 'स्वीकृति पाने की माँग का खण्डन'--nostalgia— वहीं अनुमित होना चाहिये जहाँ वर्णित भाव 'घर की याद आने' के समय के भावों से मिलता-जुलता हो—अर्थात् किसी विशिष्ट, निश्चित कारण के बिना ही व्यथा का, दौर्हृद-का अनुभव, और उसके साथ यह भावना कि व्यक्ति की परिस्थिति नयी, अपरिचित, गैर और किसी अज्ञात, अस्पष्ट रूप से असन्तोषप्रद और अस्वीकरणीय है। जहाँ ऐसा भाव न झलकता हो—निस्सन्देह इसका निर्णय बहुत कुछ पाठक की भावज्ञता पर निर्भर करता है—वहाँ ऐसी खण्डितावस्था का अनुमान गलत होगा। जहाँ पर जीवन की कठिनाई से बचकर किसी सरलतर जीवन की कल्पना या कामना हो, वहाँ प्रतिगामी वृत्तियाँ ही अनुमित होंगी।

[७]

यह भारी शब्द-जाल रचने के बाद पाठक के मन में प्रश्न होगा, साहित्य की आलोचना में इस सब विश्लेषण का और इन स्थापनाओं का क्या स्थान है, क्या महत्त्व है ? क्या साहित्य का मूल्यांकन इन प्रवृत्तियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर होता है ?

और भी शोचनीय तब जब एक लेखक समुदाय ही जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण अख्तियार कर ले !

* कम-से-कम एक तरुण 'कवियशः प्रार्थी' ने हिन्दी साहित्य में समाधिवाद नाम का नया वाद चलाने का संकल्प किया है !

हमारी समझ में रचना का गुण-दोष-विवेचन ही आलोचना का अन्त नहीं है। जो आलोचना इस गुण-दोष-विवेचन से आगे नहीं बढ़ती, उसको लांघकर रचयिता के मन को नहीं परखती, वह आलोचना निस्सार है, वन्ध्या है। और हमारी समझ में कलाकार के मन की परख के लिये यह देखना आवश्यक है कि अपनी परिवृत्ति से उसका सम्बन्ध कैसा है, यथार्थ के आघात के प्रति उसका रवैय्या क्या है, उससे क्या प्रतिक्रिया उसमें होती है। 'घर लौटने की' या सरलतर जीवन प्राप्त करने की, इच्छा होना ही अस्वाभाविक नहीं है, दोष नहीं है, लेकिन उस इच्छा के उदित होने पर क्या प्रेरणा कलाकार को मिलती है—बलप्रद या नकारात्मक, रचनात्मक या विनाशक—यही उसकी मानसिक शक्ति की कसौटी है। उपर्युक्त विश्लेषण का महत्त्व इसीलिये है; उसके द्वारा पाठक चाहे तो रचना से आगे जाकर रचयिता के मानस की गढ़न देख सकता है। इससे जो परिणाम निकलेंगे, वे गणित के सवालों की तरह निश्चित और नपे तुले नहीं होंगे, लेकिन इससे उनकी उपादेयता कम नहीं हो जायगी। हमने जो अनुमान ऊपर लगाये हैं, उनके भी अन्तिम और आत्यन्तिक होने का दावा हम नहीं करते—वे परीक्षण के एक अंग के उदाहरण हैं। हमें यह आशा है कि इस ढङ्ग से जो परिणाम हमने निकाले हैं, जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं और उनका जो प्रयोग आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन में किया है, वह सर्वमान्य न होकर भी विचारोत्तेजक अवश्य होगा। हमें डर है कि कलाकार के मानस की इन प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं को हम नहीं समझे तो जिस सन्धिकाल तक हमारा तरुण साहित्य इतने उत्साह से आया है, वह सन्धिकाल स्थायी हो जायगा—साहित्य प्रौढ़ता को प्राप्त ही नहीं होगा।

अन्त में हम एक उद्धरण सियारामशरण गुप्त का, और एक टी० एस० इलियट का देकर समाप्त करेंगे—इन उद्धरणों में प्रतिगामी इच्छाओं का सामना करते हुए स्वस्थमना कवि का युयुत्सु-भाव तो झलकता है ही, साथ ही हमारे लिये एक आशाजनक संकेत भी है।

अरे ओ मेरे मार्ग महान्,
कण्टकों से तू क्यों छाया?

*   *   *

बन्धु, यदि है तुझको कुछ इष्ट,
नहीं तो ये कण्टक भी क्लिष्ट।

*   *   *

तुझे होगा जो पीड़ाबोध,
वही तेरे पथ-ऋण का शोध।

—सियारामशरण गुप्त।

Because I cannot drink,
There where trees flower and springs flood,
for there is nothing again,
Because I cannot hope to turn again,
Consequently I rejoice, having to construct
something upon which to rejoice. *

—टी० एस० इलियट।

* क्योंकि मैं वहाँ पान नहीं कर सकता
जहाँ वृक्ष फूलते है, और झरने बहते हैं,
क्योंकि कुछ भी दुबारा नहीं होता।

क्योंकि फिर लौटने की आशा मैं नहीं कर सकता,
इसलिये मैं आनन्दित होता हूँ कि कुछ निर्माण करना पड़ेगा
जिसके आधार पर मैं आनन्दित हो सकूँ!

हमारा साहित्य, हमारा साहित्यकार भी 'वहाँ पान करने की आशा' छोड़कर जहाँ 'वृक्ष फूलते हैं और झरने बहते हैं', 'जिस निर्जन में सागर-लहरी अम्बर के कानों में गहरी निश्छल प्रेम कथा कहती हो' 'आनन्दित हो सकता है कि उसे 'कुछ निर्माण करना पड़ेगा जिसके आधार पर वह आनन्दित हो सके।' हमारी मानसिक प्रौढ़ता की यही परीक्षा होगी—इस निर्माण की आवश्यकता का सामना हम कैसे करते हैं?

———

संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ

प्रत्येक पीढ़ी अपनी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी को माँगों को पूर्ण-रूपेण स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाकर निर्णय करती है कि 'वह संक्रान्तिकाल में पैदा हुई है', और इससे अपने मनोनुकूल अनेक परिणाम निकाल लेती है। यह क्रिया शायद सनातनकाल से चली आ रही है, और इसलिए अनुभवी 'बुज़ुर्ग' लोग इस कथन पर मुस्करा दे सकते हैं कि 'आधुनिक युग संक्रान्ति का युग है।' क्या आधुनिक युग की परिवर्त्तन-शीलता नयी और पुरानी पीढ़ी के संघर्ष के अलावा कुछ भी नहीं है ?

विचार करने पर हम पायेंगे कि ऐसा मान लेना भूल होगी। तथापि आज की परिवर्त्तनशीलता किस प्रकार उस चिरकाल व्यापी विरोध से भिन्न है, यह समझने के लिए हमें थोड़ा-सा परिश्रम करना पड़ेगा। उस परिश्रम को सहल बनाने के लिए शायद एक दृष्टान्त द्वारा काम लेना उपयोगी होगा।

भूगर्भ-वेत्ता बतलाते हैं कि कालगति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों पृथ्वी का आन्तरिक ताप कम होता जाता है, त्यों-त्यों उसको सतह सिकुड़ती जाती है। किन्तु वह सतह, जो किसी समय वाष्पमय या द्रव्य थी, आज ठोस हो गई है, उसका घन-मान कठिनता से घटता है ; अतएव सिकुड़न से सतह पर सलवटें पड़ती जाती हैं और जो पहाड़ों और खाइयों के रूप में प्रकट होती हैं। पहाड़ क्रमशः अधिक ऊँचे और खाइयाँ क्रमशः अधिक गहरी होती चलती हैं।

इस क्रिया के साथ-साथ, पृथ्वी के आवर्त्तन के वेग के कारण वह भूमध्य-रेखा के पास बाहर को ओर फैलती चलती है—उसका आयतन बढ़ता चलता है। किन्तु ठोस पदार्थ का घनमान आसानी से बढ़ भी नहीं सकता, इसलिए ध्रुवों की ओर से पृथ्वी पिचकती जाती है। ज्यों-ज्यों उसका पेट फूलता जाता है त्यों-त्यों क़द नाटा होता जाता है।

इन दो मुख्य क्रियाओं के साथ-साथ ग्रहों-उपग्रहों और तारों के आकर्षण आदि अनेक अन्य प्रकार के दबावों पर हम ध्यान दें, तो देखेंगे कि यह जड़ दीखनेवाली पृथ्वी अनेक प्राणों से स्पन्दनशील है और परिवर्त्तित हो रही है। किन्तु यह परिवर्त्तन कैसे होता है ? पृथ्वी ठोस है, पदार्थ जड़ है ; शक्तियों का नया संतुलन नहीं हो पाता—इन विभिन्न दबावों से दबती हुई खाइयों और उठते हुए पहाड़ों में तनाव बढ़ता चलता है। कहीं-कहीं बर्फ़ के बोझ से एक चोटी ढहकर गिर पड़ती है, कहीं-कहीं कगारों के टूटने से दो एक गड्ढे भर जाते हैं, कहीं भूकम्प की दो एक हिलोरें

आ जाती हैं ; किन्तु इन अत्यन्त नगण्य स्थानीय सन्तुलन की क्रियाओं से भूतल का खिंचाव मिटता नहीं । यों ही सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं, फिर कभी ऐसी अवस्था भी आती है कि तनाव इतना तीखा हो जाता है कि जड़ पदार्थ भी उसे सहार नहीं सकता । तब देशव्यापी भूकम्प होते हैं, बड़े-बड़े भूखण्ड लुप्त हो जाते हैं, समुद्र सूख-कर नये महाद्वीप पैदा कर देते हैं ।

किन्तु इतनी विराट् उथल-पुथल के बाद भी अन्तिम सन्तुलन नहीं होता । पृथ्वी इतने बड़े परिवर्त्तन की चोट से कुछ देर स्तब्ध-सी रहकर जागती है और जानती है कि अभी अनेक छोटे-छोटे स्थानीय तनाव बाकी हैं ; बल्कि कुछ स्थलों में इस बड़ी उथल-पुथल ने ही स्थानीय तनावों को उग्रतर बना दिया है या नये तनाव पैदा कर दिये हैं । तब फिर स्थानीय सन्तुलन के लिए और छोटे-मोटे भूकम्प होते रहते हैं, कगार टूटकर गड्ढों को भरते हैं, चट्टानें गिरकर पहाड़ों को नीचा करती हैं...परिवर्त्तन का चक्र चलता रहता है ।

मानव-जीवन में इस क्रिया का पर्याय मिलता है । मानव-जाति जड़ नहीं है, पर स्वभाव का यह भेद उसे परिवर्त्तन के चक्कर से बाहर नहीं निकाल देता, केवल उस क्रिया को अधिक उलझा हुआ बनाता है, और उसका अध्ययन और निर्धारण कठिनतर बना देता है । मानव-जीवन में भी स्थानीय आन्दोलन और सुधारों की परम्परा की आड़ में भी अन्तर्विरोध बढ़ता चलता है, रूढ़ियाँ कड़ी पड़ती हैं और छोटे-छोटे 'सेफ़्टी-वाल्व' खुलते हैं ; फिर कभी अत्यधिक ताप के कारण जीवन के इञ्जन का बायलर फट जाता है—धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक क्रान्तियाँ होती हैं । और नये सन्तुलन के बाद भी अनेक स्थानीय तनाव बने रहते हैं, या बढ़ जाते हैं, या नये भी उत्पन्न हो जाते हैं ।

यों परिवर्त्तन 'एक और अविभाज्य' माना जा सकता है और प्रत्येक युग को संक्रान्तिकाल बताकर—बल्कि संक्रान्ति को ही काल का धर्म बताकर—अपने युग की विशेषता की दुहाई देनेवालों की खिल्ली उड़ाई जा सकती है । किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर परिवर्त्तन की क्रिया को दो विभागों में बाँटा जा सकता है । एक विभाग, एक सीढ़ी, वह है जब कि अनेक छोटे-मोटे स्थानीय सुधारों के बीच में भी तनाव बढ़ता चलता है, दूसरी वह जब कि एक बड़े विस्फोट के बाद भी होते रहनेवाले छोटे-छोटे सुधारों के सहारे तनाव घटता जाता है और एक अपेक्षाकृत सन्तुलित अवस्था आती जाती है । एक संघर्ष का उठान है, दूसरी उसका उतार ; एक क्रान्ति की ओर उन्मुखता की अवस्था है, एक विमुखता की ; एक विश्लेषण की अवस्था है, दूसरी समन्वय की ।

कोई पूछ सकता है कि क्रान्ति की अवस्था एक तीसरी और अलग सीढ़ी क्यों

नहीं है जब कि वास्तविक परिवर्त्तन उसी में होता है ? किन्तु वास्तविक क्रान्ति का क्षण—उन्मुखता-विमुखता की, उठान से उतार की क्रिया में परिणति का सूक्ष्म सन्धि-काल एक तो इतना अल्प होता है, और उसमें काल-प्रवाह इतना तीखा और संकुल, कि अध्ययन जैसी मन्दगामी क्रिया के लिए वह प्रासंगिक नहीं रहता। अध्ययन के लिए क्रान्ति का प्रारम्भिक तनाव—उसके कारणभूत तत्त्वों के क्रमिक विकास का विवेचन—ही उचित और पर्याप्त सामग्री होती है।

यहाँ एक प्रश्न और भी उठता है। रूस में ऐसा माना जा सकता है कि क्रान्ति हो चुकी और अब स्थिति को जमाने का, स्थापना का, यानी उतार का, युग है। दूसरी ओर ब्रिटेन में, भारत में, अन्य अनेक देशों में, जीवन का अन्तर्विरोध बढ़ता जाता है—युग उठान का है। दोनों क्रियाएँ साथ साथ भी चलती हैं। तब हम अतिव्याप्ति के संकट से कैसे बचें ? उसके लिए हमें अध्ययन के उद्देश्य के अनुकूल किसी एक इकाई को लेना ही फलप्रद होगा—राजनैतिक दृष्टि से देखें तो एक राष्ट्र को, सामाजिक या धार्मिक दृष्टि से एक जाति या समाज को, इत्यादि। साहित्य के अध्ययन के लिए हमें एक सांस्कृतिक इकाई चुननी होगी—अर्थात् एक भाषा या भाषा-समूह के साथ सम्बद्ध मानव-समुदाय को, क्योंकि भाषा अथवा शब्द ही संस्कृति की धुरी होती है।

जब हम संक्रान्तिकाल की बात कहते हैं, तब हमारे मन में कौन-सी अवस्था होती है ? या, इस प्रश्न को और सीमित करके रखें, तो पूछें कि जब हम आधुनिक युग को संक्राति का युग मानते हैं, तब ठीक कौन-सी अवस्था की ओर हमारा इशारा होता है ?

स्पष्ट है कि वास्तविक क्रान्ति का युग हमारा नहीं है। अधिक से अधिक आशा-वादी क्रान्तिकारी, और अधिक से अधिक निराशावादी कट्टरपन्थी भी यही कहता है कि 'हम क्रान्ति के मुँह में जा रहे हैं।' दोनों के मनोनुकूल इसकी व्याख्या करें, तो हम जन्नत को जा रहे हैं, या जहन्नुम को जा रहे हैं; जा ही रहे हैं, पहुँचे नहीं हैं।

यह और भी स्पष्ट है कि उतार का युग भी यहाँ नहीं है। हमारे जीवन के क्रमशः बढ़ते हुए तनाव की ओर जिसका ध्यान न गया हो, ऐसा शायद ही कोई साक्षर व्यक्ति देश में होगा।

अतएव हमें संक्रान्तिकाल की बात कहकर वास्तव में 'बढ़ते हुए संघर्ष के युग' की ही बात करनी चाहिए। हमारा साहित्य भी वास्तव में संक्रान्ति-युगीन जीवन को नहीं, वर्धनशील संघर्ष को ही प्रतिबिम्बित करता है। यह दूसरी बात है कि इस बढ़ते हुए संघर्ष को छिपानेवाले अनेक छोटे-मोटे सुधार और स्थानीय सन्तुलन हम देखते हैं। उसे ध्यान में रखते हुए हम यह कहना चाहें कि यह अनेक छोटी छोटी संक्रान्तियों

का युग है जिनकी आड़ में एक बड़ी क्रान्ति की तय्यारी अनवरत होती जा रही है, तब हम अपने युग को संक्रान्ति का युग भी कह सकते हैं, पर स्पष्ट है कि तब हम इस शब्द को एक विशेष और सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त कर रहे होंगे।

इस विश्लेषण के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जिस संघर्ष को हम ध्यान में रख रहे हैं, वह पीढ़ियों के संघर्ष से भिन्न और अधिक व्यापक चीज़ है। पीढ़ियों का संघर्ष सदा बना रहता है ; पर जीवन के महानतर संघर्ष का वह एक अंग है। बल्कि 'पीढ़ियों का संघर्ष' नाम से हम जिस उलझी हुई क्रिया को जानते हैं, वह स्वयं एकाधिक संघर्षों का पुंज है ; 'पीढ़ियों का संघर्ष' तो केवल उसी को कहना चाहिए जो पितरों और सन्तति के पितृत्व और सन्तानत्व से ही उद्भूत होने-वाला संघर्ष है, उसके साथ आ मिलनेवाले पुराने और नये सामाजिक मतों के या राज-नैतिक आदर्शों के संघर्ष वास्तव में उससे अलग हैं और समाज अथवा जाति के विकास से ही उत्पन्न होते हैं। संघर्ष का यह अध्ययन करते समय हम पीढ़ियों के आपस के सम्बन्ध का नहीं, मनुष्यमात्र के अपनी परिस्थिति के साथ सम्बन्ध का ही अध्ययन या विवेचन करते हैं।

[२]

बढ़ते हुए संघर्ष के कारण साहित्यकार के आगे अनेक नयी समस्याएँ खड़ी हो गई हैं और होती जायँगी। ये समस्याएँ सबकी सब साहित्यिक नहीं होंगी ; यदि साहित्यकार औसत से अधिक जाग्रत मानव है तो अन्य अनेक प्रकार की समस्याएँ भी उसी के आगे अधिक तीव्र होकर आयेंगी। पर जो विशेष रूप से साहित्यिक सम-स्याएँ हैं, वे अन्य व्यक्तियों के लिए उतना तात्कालिक महत्त्व नहीं रखेंगी, बल्कि अधिकांश को 'समस्याएँ' ही नहीं जान पड़ेंगी। तथापि साहित्यिक के लिए इन सम-स्याओं का सामना करना एक तात्कालिक कर्तव्य है।

इन समस्याओं की ओर हमारे साहित्यकारों का ध्यान न्यूनाधिक मात्रा में गया है। कुछ की पड़ताल के लिए पत्रकारों और प्रचारकों का सहयोग भी साहि-त्यकारों को मिल गया है। जिन समस्याओं की अधिक चर्चा हुई है, उन्हें एकस्थ करके मोटे तौर से 'प्रगति की समस्या' कहा जा सकता है। संघर्ष के बीच में साहि-त्यकार किसे प्रोत्साहन दे, किसका समर्थन करे, कौन-सा पक्ष ले, किसके अनुगत होकर चले,—एक केन्द्रीय समस्या के कई पहलू हैं और उन्हें किसी एक पर न्यूनाधिक ज़ोर देकर देखा जा सकता है।

विवेचन के लिए इस समस्या को या समस्याओं के समूह को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है ; साहित्य और प्रगति ; राजनीति और साहित्य ; साहित्य किसके लिए ? सुविधा के लिए हम प्रश्नों का क्रम उलटकर अन्तिम का ही सामना पहले करेंगे।

साहित्य किसके लिए ?

बढ़ते हुए संघर्ष के साथ-साथ साहित्य के भीतर एक तनाव पैदा हो गया है। आधुनिक युग का साहित्यकार यह मानने का अभ्यस्त है कि कला स्वतन्त्र है, कलाकार भी स्वतन्त्र है और किसी को 'राजस्व' देने को बाध्य नहीं है। दूसरी ओर साहित्य-पाठकों में बहुत से ऐसे हैं, और साहित्यकारों में भी अनेक, जो साहित्य के उत्तर-दायित्व का अनुभव करते हुए उसे गतिनिर्देश करना आवश्यक समझने लगे हैं। अन्ततः यह भी व्यक्ति और परिस्थिति का संघर्ष है— कलाकार नामक एक विशिष्ट व्यक्ति के अभिमान का और हमारी आधुनिक राजनैतिक-सामाजिक परिस्थिति-रूपी मजबूरियों का संघर्ष।

एक और बात का इशारा भी यहाँ कर देना उचित होगा। यह संघर्ष एक दूसरे प्रकार के विरोध का भी प्रतिबिम्ब है। साहित्य की भारतीय परम्परा में कलाकार को सदा समाज के प्रति उत्तरदायी माना जाता रहा, उसके लिए कर्तव्याकर्तव्य के नियम बने रहे। हमारी परम्परा यह कहती थी कि साहित्यकार को अपनी जिम्मेदारी का ही अभिमान होना चाहिए--कवि उत्तरदायी है जैसे कि ईश्वर उत्तरदायी है। काला-न्तर में यह परम्परा क्षीण होती चली, पहले मुग़लों के द्वारा अलौकिक के स्थान पर लौकिक आनन्द की साधना के कारण, और फिर विदेशी परम्परा के आक्रमण के कारण। यूरोप से 'आर्टिस्ट' का जो आदर्श हमारे बीच आया, वह उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी इंग्लैण्ड से आया और अपने साथ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उग्र तथा कुछ-कुछ विकृत भावना लेकर आया। हमने कलाकार को 'बोहेमियन' के रूप में देखा ; ऐसे व्यक्ति के रूप में, जो किसी के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं मानता, और जिसका एकमात्र इष्टदेव उसकी अपनी भीतरी वासना या प्रेरणा है।

इस प्रकार व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष की पीठ पर दो परस्पर विरोधी आदर्शों का संघर्ष भी लद गया, और आज भारतीय साहित्यकार के आगे 'कलाकार' और 'सुधारक' के दृष्टिकोणों का जो विरोध समस्या बनकर खड़ा है, वह इन दो संघर्षों का संयुक्त रूप है।

अस्तु ; इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण क्षण वह होता है जब वह इस समस्या पर कोई निर्णय करता है, उस प्रश्न का उत्तर देता है जिस-के लिए हमारे एक पत्रकार ने एक भावपूर्ण वैदिक उक्ति चुनी है— कस्मै देवाय ? कला किसके लिए, किस लिए ?

पाठक के लिए भी यह प्रश्न कम महत्त्व का नहीं है, यद्यपि बहुत से पाठक इस पर ध्यान नहीं देते और आधुनिक जीवन का दबाव पाठक को इधर ध्यान देने लायक छोड़ना भी नहीं चाहता।

कला को दो दृष्टि-बिन्दुओं से देखा जा सकता है, कलाकार के और रसिक के। रसिक की ओर से देखें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि रसिक साहित्य से धर्म, नीतिशिक्षा, विज्ञान, प्रोपेगेण्डा, कुछ नहीं माँगता ; उसके लिए कला का उद्देश्य है जीवन को उन लोगों के लिए सह्नीय बनाना जिनके लिए संसार एक विवश होकर स्वीकार करने की चीज़ है। इस दृष्टि से विचार करके हम बहुत आगे नहीं बढ़ सकेंगे, अतएव पहले कलाकार के पक्ष की ओर ध्यान देना उचित होगा।

कलाकार कला में क्या रखता है ?

धर्म ? नीतिशिक्षा ? विज्ञान ? मनोरंजन ? प्रोपेगेण्डा ?···

तत्काल यह प्रश्न हमारे सामने आता है, क्या ऐसी चेष्टित रचना साहित्य हो सकती है, क्या कला का 'निर्माण' हो सकता है, क्या कलाकार को बाहर से निर्देश दिया जा सकता है···

यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं है, तो उसकी प्रेरणा-शक्ति एक निगूढ़ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह संसार की या समाज की कठपुतली है। वह विवश होकर लिखता है, संसार के बारे में लिखता है, किन्तु उस विवशता का कारण संसार नहीं होता, न हो सका है। वह बाध्य होता है पकड़ने को, बाँधने को, और व्यंजित करने को संसार का प्रवाह, चाहे वह अच्छा हो चाहे बुरा, चाहे स्वीकृति से, चाहे अवज्ञा से ; और इस अवस्था में संसार की गति से उत्पन्न होनेवाले विचार उसे सीमित नहीं कर सकते, रोक नहीं सकते।

संसार की अनुभूतियाँ और घटनाएँ साहित्यकार के लिए मिट्टी हैं, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बाँध नहीं सकती, कलाकार उसका मनमाना प्रयोग कर सकता है, मनचाहे अंश को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। कलाकार को अमीर और ग़रीब, सुखी और दुःखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे में लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखता है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुःखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं नहीं। दुःख, अपूर्णता, पीड़ा, ये सर्वव्यापी हैं। गरीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं ग़रीब हैं। और सुख और सन्तोष भी वर्ग-भेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का सुख दुःख दूसरे वर्ग के सुख दुःख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाय ? क्यों न हम दोनों वर्गों के ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के गान गायें ? माना कि आज संसार का अधिकांश प्रपीड़ित और निर्धन है, किन्तु क्या इसी लिए उनसे सहानुभूति करते समय हम अवश्यमेव और सब तरफ़ से अपनी सहानुभूति खींच लें ? क्या कलाकार की अनुभूति

इतनी व्यापक, और साथ ही इतनी असंलग्न, अनासक्त, objective नहीं हो सकती कि दोनों पक्षों को उनका उचित स्थान दे सके ? अतः वे लोग जो 'साहित्य किसके लिए' का उत्तर देते हुए चाहते हैं कि साहित्यकार का क्षेत्र सीमित कर दिया जाय, वे भारी भूल करते हैं। यदि वे यह कहें कि अब तक हमारा साहित्य जीवन के एक पहलू में ही व्यस्त रहा है, और अब उसे दूसरे पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए, तब उनकी माँग में औचित्य होगा। किन्तु केवल निर्धनों, किसान-मजदूरों, प्रपीड़ितों का वर्णन करने के लिए कलाकार को बाधित करना तो एक प्रकार की एकांगिता के स्थान पर दूसरे प्रकार की एकांगिता माँगना है ; वह एक प्रकार का झूठ छुड़ाकर दूसरे प्रकार का झूठ बुलवाना है, वह सर्वांगिता का विद्रोह नहीं है। यह हो सकता है कि दूसरे प्रकार का झूठ आजकल अधिक सामयिक जान पड़े, पर सत्य वह नहीं हो सकता···सावन के अन्धे के लिए हरा ही एक रंग है, लेकिन सुझाखे तो अन्य रंग भी देखेंगे ही...

और यदि हम सुधारक का सिद्धान्त मान ही लें कि हमें 'जनता' का पक्ष लेना है, तो भी क्या यह आवश्यक है कि साहित्यकार उसी के जीवन के बारे में लिखे ? यथार्थ-वर्णन शायद उपेक्षा से भी अधिक सफल हथियार हो सकता है—यदि हम कला को हथियार की तरह ही प्रयुक्त करना चाहते हैं। ह्यूगो के 'लाफिंग मैन' में अंग्रेजी अभिजात-वर्ग के जीवन का या रोमैं रोलां के 'क्रिस्तोफ़' में पैरिस के नागरिक जीवन का वर्णन जिन्होंने पढ़ा है, वे जानेंगे कि निष्पक्षता में भी घोर विनाशकारी शक्ति हो सकती है !

साहित्य की सामग्री, और साहित्य का ध्येय, दो अलग-अलग चीज़ें हैं। 'कस्मै देवाय ?' का उत्तर देनेवाले अनेक व्यक्ति इस बात को भूलकर भ्रम में पड़ गये हैं। हमने देखा कि सामग्री को सीमित करने का यत्न प्रमाद है। तो क्या उसका ध्येय निश्चित किया जा सकता है, क्या साहित्यिक कृतित्व की दिशा निर्दिष्ट की जा सकती है ?

हम कह आये हैं कि साहित्य की प्रेरणा करनेवाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती, कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति—उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता—उसे निश्चित करती है। अतएव किसी एक दिये हुए ढाँचे पर साहित्य का निर्माण करने या कराने की आशा भी भ्रामक है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कला केवल एक निरुद्देश्य उद्गार है, उच्छ्वास है, कलाकार के अन्तस् की दलदल से उठा हुआ एक बुलबुला मात्र। साहित्य भी

समाज को प्रेरणा दे सकता है, 'आगे' बढ़ने को विवश कर सकता है, किन्तु तभी जब लेखक में स्वभावतः उस प्रेरणा से उत्पन्न हुआ हुआ असन्तोष, अशान्ति, विद्रोह भाव हो...कलाकार की कृतित्वशक्ति किन्हीं बौद्धिक सीमाओं में बँधकर नहीं चलती, वह केवल चलती है।

हमने अब तक तीन स्थापनाएँ की हैं:

कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है।

परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हम जैसी प्रेरणा चाहते हैं, वह यदि साहित्यकार में स्वभावतया नहीं है, तो हम बलात् उसे पैदा नहीं कर सकते।

साहित्य में प्रेरक शक्ति हो सकती है, किन्तु वह साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयंभूत फल है।

ये स्थापनाएँ सुधारक के प्रतिकूल पड़ती हैं। पर उसकी चेतना जानती है कि उसके आसपास की समस्याएँ भी तुरत अपना जवाब माँगती हैं, और इन स्थापनाओं से उसको सन्तोष नहीं होता। उसे सोचना चाहिए कि हमारे देश में, जहाँ एक तो साक्षरता का अनुपात बहुत कम है, दूसरे शिक्षा विदेशी है, वहाँ लेखक से अभी यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह जनता के लिए, जनता के बारे में, जनता-बुद्धि से अविभूत होकर लिख सकेगा? हमारे प्रायः सभी लेखक एक छोटे-से प्रबुद्ध वर्ग के प्राणी हैं जो जनता से अपना कोई सम्बन्ध नहीं जानता, जिसके विचार, मनोगतियाँ, संस्कार, सभी इसके प्रतिकूल हैं। 'जनता के लिए' वह लिखेगा जो उससे भाव-साम्य का अनुभव करे; जो जाने कि उसकी जड़ें भी उस विराट् जनता-जनार्दन की पीठिका में से निकली हैं; जो उन जड़ों में जन-जीवन के रस का स्पन्दन अनुभव करे। ऐसे लेखक हम में हैं कितने, और आयें कहाँ से, जब तक यह वर्णभेद, यह शिक्षाभेद, यह परिस्थितिभेद और इन सबसे उत्पन्न हुई हुई मानसिक रूढ़ियाँ नहीं टूटतीं?

किन्तु इन सब विचारों से सुधारक की समस्या हल नहीं होती, वह चाहता है कि उसे मार्ग मिले, और तुरत मिले; वह 'पथ का दावेदार' है, और इससे सन्तुष्ट नहीं है कि साहित्य उसका पथ नहीं गढ़ सकता। वह क्या करे?

उसके लिए एक ही मार्ग है। उसे साहित्य का मोह छोड़ना चाहिए। वह दुहाई देना चाहता है, अपील करना चाहता है, तो साहित्य और कला के नाम को अलग रखकर नवयुवक लेखकों से आग्रह करे कि वे फिर से जनता की ओर उन्मुख हों, नव-निर्माण में सहायक हों, अपनी शक्ति वर्तमान संसार को अधिक सहनीय बनाने में नहीं, असह्य बनाकर बदल देने में लगा दें। वह आग्रह उचित होगा, फलप्रद भी हो सकेगा। उसके उत्तर में आयेंगे सुधारक, योधा, क्रान्तिकारी...उससे साहित्य नहीं उत्पन्न होगा, किन्तु सुधारक

को आज क्यों चाहिए साहित्य ? उसे पहले चाहिए शक्ति—उग्र, उद्धत रण-तत्परता... टामस मान के शब्दों में उसे –

'जागरूकता और दृढ़ता के पथ पर भविष्य की ओर अग्रसर होनेवाली इच्छा— आज युवकों को यही सिखाना है। विगत वैभव की ओर प्रत्याकृष्ट करनेवाला पाठ नहीं, जाग्रति और ज्ञान का पाठ, जो चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर ले जाये, जो शक्ति और प्रेरणा दे जीवन के मोहजन्य सौष्ठव और मिथ्या सम्पूर्णत्व का विनाश करने की...जो हमें विश्लेषण, मनोविज्ञान और समन्वय की उन सीढ़ियों पर ले जाय जो सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से अराजकता कहलायेंगी, किन्तु जिन पर कहीं रुकना नहीं है, कहीं लौटना नहीं है, कहीं जीर्णोद्धार नहीं है, कहीं ठहरने को तिलभर स्थान नहीं है--फोड़ निकालने के लिए एक मार्ग जीवन की एक सच्ची और स्वच्छन्द और जागरूकता द्वारा सुरक्षित एकता का, सम्पूर्ण आत्मबोध प्राप्त किये हुए मानवों की संस्कृति का...'

और साहित्य ? कला ? वे वहाँ नहीं होंगे ; किन्तु पथ पर सुधारक को इनकी आवश्यकता क्या ? इनका स्थान तो है पथ के अन्त तक पहुँचकर, जहाँ विश्राम है। पथ पर हम माँगते हैं युद्धगीत, जो साहित्य हो न हो, शक्ति तो है...

यह अन्तिम स्थापना भी ख़तरनाक सिद्ध हो सकती है। और यह शंका भी निर्मूल नहीं होगी कि वास्तव में 'साहित्य किसके लिए' की समस्या का उत्तर अभी नहीं दिया गया है। उपर्युक्त विवेचन, मूल समस्या पर आक्रमण करने के पहले की पैंतरेबाज़ी है। समस्या हमारे लिए यह है कि साहित्य के प्रश्न को लेकर हम क्या करें ? एक ओर हमें आवश्यक जान पड़ता है कि हम शक्तिशाली, प्रेरणा भरा साहित्य पायें, दूसरी ओर हमें दीखता है कि लेखक को ऐसा साहित्य उत्पन्न करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। तो क्या किया जाय ? जो केवल सुधारक है, वह तो कह सकता है कि साहित्य और साहित्यकार घर बैठें, हमें लड़ाई लड़नी है। पर हम सब यह नहीं कह सकते, हम सब के लिए यह सम्भव भी नहीं है कि साहित्य के बिना जी लें ; और शायद इस प्रकार एक ओर फेंका जाकर साहित्य भविष्य में भी वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकेगा जो उसका होना चाहिए - संघर्ष की उठान के युग के बाद जब हम पुनः कलाओं के लिए अवकाश पायेंगे, तब तक साहित्य के पौधे की जड़ सूख चुकेगी और वह निष्प्राण हो जायगा। और यह ख़तरा उठाने को हम तय्यार नहीं हैं, क्योंकि जिस संघर्ष का हल करने के लिए हम प्रेरक साहित्य चाहते हैं, वह संघर्ष हमारी संस्कृति को ख़तरे में डाल रहा है और उस खतरे से बचने का उपाय साहित्य के निमित्त से ही मिल सकता है।*

*देखिए 'संस्कृति और परिस्थिति।'

हमें साहित्य को विवश करने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिए, हमें चाहिए कि हम उसी वस्तु को ग्रहण करें जिसमें शक्ति है, प्रेरणा है। अर्थात् हमें लेखकों को नहीं, समालोचकों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। लेखक बन्धन से परे है, और रहेगा। यह हम व्यक्तिवाद के नाम पर नहीं कहते; लेखक चाहे भी तो स्वयं बँध सकता है, पर अपनी रचनाशक्ति को नहीं बाँध सकता, बाँधने से वह मर जायगी। समालोचक को ही शिक्षित किया जा सकता है कि वह संसार के प्रति अपना दायित्व समझे, और जनता के सामने वह लाये जिसकी उसे आवश्यकता है, वह रोके जो व्यर्थ या हानिकर है। जितना ही जीवन का दबाव व्यक्ति पर बढ़ता जाता है, उतना ही समालोचक का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है—क्योंकि उतना ही शिक्षा का, परखने की शक्ति का महत्त्व जनसाधारण के लिए अधिक होता जाता है। और समालोचकों को शिक्षित करने के साथ-साथ उस वर्ग को भी शिक्षित करने की आवश्यकता है जिसके लिए साहित्य माँगा जा रहा है—जनता को। जनता को सीखना होगा कि प्रबुद्धवर्ग उसे नहीं समझता, अनिच्छा या रुचिभेद के कारण नहीं, एक मौलिक अक्षमता के कारण—उसी प्रकार जिस प्रकार जनता प्रबुद्धवर्ग से अन्तरंग एकता नहीं महसूस कर सकती। उसे शिक्षित होना होगा ताकि वह प्रबुद्धवर्ग से साहित्य न माँगकर स्वयं अपना साहित्य बनाये—ऐसा साहित्य जो उसके जीवन का प्रतिबिम्ब हो। जनरुचि का परिष्कार, उसमें आलोचक-बुद्धि और जागरूकता उत्पन्न करना और बनाये रखना ही आज उन सबका कर्त्तव्य है जो साहित्य के लिए चिंतित हैं—चाहे वे प्रपीड़ितोन्मुख विद्रोही-भाव रखनेवाले साहित्यिक हों, चाहे केवल साहि-पारखी या रसिक।

साहित्य किसके लिए? या साहित्य किस लिए? कस्मै देवाय हविषा विधेम? इस प्रश्न का सामना हम पीछे से ही कर सकते हैं। जब हमारे सांस्कृतिक जीवन में वह शक्ति आ जायगी जिसे हमने आलोचक-बुद्धि या जागरूकता कहा है, जब हमारी मूर्छित अनुभूति-शक्तियाँ चेतन होकर उसे पहचानेंगी और उसके स्पन्दन से तड़प उठेंगी, तब हम पायेंगे कि हमारे साहित्य में भी वाञ्छित शक्ति आ गई है, कि जो लेखक कहने पर शक्ति-संचय नहीं कर सके थे वे अब स्वभावतया शक्तिशील उग्र प्रेरणा से भर रहे हैं, साहित्य मानो जाग उठा है और एकाएक अत्यन्त विस्तीर्ण हो उठा है—हमारी समस्या लुप्त हो जायगी।

तब और केवल तब। उससे पहले नहीं।

राजनीति और साहित्य

यह एक मनोरंजक बात है कि जिस हिन्दी पत्रकार ने 'कस्मै देवाय?' शीर्षक

से 'साहित्य किसके लिए' की समस्या हिन्दी संसार के आगे रखी थी, और लेखकों से माँग की थी कि वे आधुनिक परिस्थिति को पहचानें और युगानुकूल साहित्य लिखें, उसी ने कुछ समय बाद यह प्रश्न उठाया कि 'साहित्य मन्दिर में' कौन-से देवता की मूर्ति स्थापित हो और 'युग-देवता' राजनीति का विरोध करते हुए मानसिक स्वाधीनता को देवी की दुहाई दी थी। किसी हद तक यह परिवर्त्तन उक्त पत्रकार की सुपरिचित भावुकता और संग्राहकता (impressionability) के कारण ही हुआ होगा, लेकिन दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण शायद यह था कि 'युगधर्म', 'स्वाधीनता' आदि की उसकी धारणाएँ सुलझी हुई और स्पष्ट नहीं थीं। अस्तु, उनका मानसिक विवेचन हमें अभीष्ट नहीं है। हमारे सामने प्रश्न यह है कि आधुनिक परिस्थिति में साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध क्या है और क्या होना चाहिए जिससे दोनों को लाभ हो सके।

हिन्दी में बहुत-से साहित्यिक यह शिकायत करते हैं कि राजनीति ने साहित्य के ऊपर कब्जा कर रखा है। अपने मन की पुष्टि के लिए वे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के संचालन का, भाषा और लिपि के प्रश्न पर राजनैतिक नेताओं के रवैय्ये का, और अन्य ऐसी बातों का उदाहरण देते हैं। निस्सन्देह साहित्यिकों की शिकायत में सार है और वे उपेक्षित होते हैं। तथापि उनके प्रश्न के हल के लिए इस शिकायत की जाँच कर लेना ही पर्याप्त नहीं है।

साहित्यिक और राजनैतिक कार्यकर्त्ता दो अलग-अलग वर्ग हैं जो एक दूसरे को कुचल डालने या बाँध रखने में लगे हैं — उनके धर्म का यह निरूपण बिल्कुल भ्रान्त है। साहित्यिक और राजनैतिक को दो पृथक् और विरोधी तत्त्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के-से संघर्ष-युग में तो वह मूर्खतापूर्ण-सा ही है। आधुनिक युग में व्यक्ति के लिए बिल्कुल सम्भव है कि वह एक साथ दोनों हो सके। बल्कि इन दोनों के अलावा वह बीस चीज़ें और हो सकता है और फिर भी किसी को आपत्ति करने का अधिकार नहीं होगा। क्योंकि यह तो एक व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति का प्रश्न है। व्यक्ति में प्रबल शक्ति होनी चाहिए जो निरन्तर प्रवाह के लिए रास्ता खोजती रहे, अवरोधों पर बराबर चोट करती रहे, टक्कर लेती रहे, घुमड़ती रहे। शक्ति पर्याप्त हो, तो फिर यह प्रश्न नहीं उठता कि वह किधर से बहे और कितने रास्तों से बहे।

फिर जिसके पास शक्ति है, या साहित्यिक भाषा में प्रतिभा है, वह कभी अभि-व्यंजना के एक ढंग से तृप्त नहीं रह सकता। यह बात नहीं है कि एक ढंग में सफ-लता न मिलने पर ही वह दूसरी ओर आकृष्ट हो। बल्कि एक ढंग में जितनी सफलता मिलती है उतना ही उसमें उत्साह बढ़ता है कि वह दूसरे ढंग को भी आज़मा कर

देखे। कुछ महान् कलाकारों के उदाहरण ले लीजिए। चित्रकार और शिल्पी माइकेल एंजेलो ने कविता करने का प्रयत्न किया था और गीतों की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। कवि दांते ने एक बार—केवल एक बार एक चित्र बनाया था। अपने ज़माने में साहित्य और संगीत-मर्मज्ञ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उत्तर जीवन में तूलिका और रंगों को अपनाया है। उनकी कृतियों को कोई चित्रकला के नमूने माने या न माने, यह सभी को मानना पड़ेगा कि वे उनकी अन्तःशक्ति के लिए फूट निकलने का एक मार्ग अवश्य हैं।

तथापि शक्ति—या प्रतिभा या योग्यता या libido या दैवी प्रेरणा के कई रूपों में प्रकट होते रहने पर भी यह स्वाभाविक और आवश्यक है कि कोई एक रूप दूसरे रूपों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य रखता हो। इतिहास में ऐसे भी ज़माने आये हैं जब कि साहित्य ने अत्यन्त गौरव का पद पाया है और राजनीति उसके सामने गौण चीज़ हो गई है। (ऐसे भी ज़माने आये हैं जब कि साहित्य और राजनीति दोनों को ही किसी तीसरी शक्ति ने ग्रस लिया हो—यथा धर्म ने।) आजकल संसार भर में, और खासकर हमारे देश में, राजनैतिक जाग्रति में सबसे अधिक शक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुचित है। आज राजनैतिक समस्याएँ ही हमारी प्रमुख समस्याएँ हैं, 'बढ़ते हुए संघर्ष' का दबाव वहीं पर सबसे स्पष्ट है; और यदि हमारे प्राणों की शक्ति सबसे पहले उन्हीं से टक्कर लेना चाहती है तो यह हमारे स्वस्थ होने का लक्षण है। इससे उलटी बात ही हमारे लिए भयानक होती। जब रोम जला था तब अगर बादशाह नीरो उसे बुझाने में दत्तचित्त होता तो हम यह न कहते कि राजनीति ने कला को कुचल दिया। जलते हुए नगर की उपेक्षा करके संगीत में मस्त रहकर ही नीरो ने इतिहास में अपना नाम सदा के लिए कलंकित कर लिया।

साहित्य और राजनीति का असर एक दूसरे पर होने से रोका भी नहीं जा सकता—चाहे राजनीति का युग हो, चाहे साहित्य का। नीत्शे 'साहित्यिक' था, लेकिन आधुनिक राजनीति पर उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं हो सकती। लेनिन को कोई भी साहित्यिक नहीं कहता, फिर भी आधुनिक साहित्य पर उसकी गहरी छाप है। क्या इसके लिए नीत्शे या लेनिन दोषी हैं? क्या यहाँ उनकी शक्ति—प्रतिभा—का ही सबूत नहीं है कि अपने क्षेत्र के बाहर भी उनका प्रभाव इतना गहरा पड़ा? (परिस्थितियाँ भी प्रभाव के विस्तार में सहायक या बाधक होती हैं, और उनकी ओर ध्यान देना अनिवार्य है, पर उनके लिए भी तो व्यक्ति जिम्मेवार नहीं होता।)

साहित्यिक के लिए मानसिक स्वाधीनता ज़रूरी है। लेकिन राजनीतिक के लिए क्या वह कम ज़रूरी है? जो बात साहित्यिक के लिए कही जा सकती है, वह राजनीतिक के लिए भी सच है। कायदे, नियम, प्रतिबन्ध, बन्धन—मामूली आदमी के लिए

ये चीजें एक सहारा होती हैं, क्योंकि वह अपने कार्यों का नैतिक प्रमाण (ethical sanction) अपने भीतर से नहीं, बाहर से पाता है। लेकिन किसी भी प्रतिभावान् व्यक्ति के लिए यही चीज़ें विघ्न हो जाती हैं, क्योंकि वह अपने कार्यों के लिए बाहरी आधारों पर निर्भर नहीं करता। इस प्रकार हर व्यक्ति जिसके पास शक्ति है, अनिवार्य रूप से अनुभव करता है कि उसके मार्ग में कुछ रुकावट भी है। यदि उसके पास काफी शक्ति होती है, तो वह रुकावटों को हटा देता है और अपनी मानसिक स्वाधीनता कायम रखता है। यदि नहीं तो वह विधान में आ जाता है, मानसिक स्वाधीनता खो देता है, बहुत भला और बहुत साधारण आदमी हो जाता है। मानसिक स्वाधीनता माँगने की चीज़ नहीं है, राज़ीनामा करके नहीं मिल सकती ; बराबर लड़ते रहकर ही उसकी रक्षा की जा सकती है।

साहित्यकार के लिए मानसिक स्वाधीनता की दुहाई देनेवाला कहता है, "राज-नैतिक दलबन्दियाँ क्षणस्थायी हैं और साहित्य ऊँची चीज़ है, चिर-स्थायी है।" यह कथन सच तो है, पर जिस भूल को छिपाये है वह एक समानान्तर अर्ध-सत्य के द्वारा प्रकट की जा सकती है — कि 'साहित्यिक गुटबन्दियाँ क्षण-स्थायी हैं, और राज-नीति ऊँची चीज़ है, चिर-स्थायी है।' इसकी अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है, सीधी-सी बात है कि तुलना एक ही प्रकार की चीजों की हो सकती है। हमारे लिए प्रसंग की बात यह है कि राजनीति से, साहित्य से, अभिव्यंजना के बीसियों प्रकारों से, अधिक स्थायी एक चीज़ है। वह है रचने की, सृजन करने की प्रेरणा— creative urge। मानसिक स्वाधीनता का प्रश्न उसके साथ लगता है। जो उस प्रेरणा का आदर करता है, वह स्वयं आदर का पात्र है, जो उसे बेचता है, जो उसे विलासिता का साधन बनाता है, वह नीच है, और नीच से बढ़कर बेवकूफ़, क्योंकि वह स्वयं अपना नाश कर रहा है। यह स्थापना केवल साहित्यिक प्रतिभा के लिए ही सत्य नहीं है, सब तरह की सृजन-शक्ति के लिए है। फिर वह शक्ति चाहे साहित्य पैदा करने की हो, चाहे इन्कलाब पैदा करने की, और चाहे बच्चे पैदा करने की।

साहित्य और प्रगति

इस लेख के प्रारम्भिक खण्ड में हमने कहा था कि आधुनिक युग की समस्याओं को मोटे शब्दों में 'प्रगति की समस्या' कहा जा सकता है। इसके दो पहलुओं पर हमने विचार कर लिया ; उस प्रसंग में कुछ व्यापक बातों की भी जाँच-पड़ताल हो गई है जो 'साहित्य और प्रगति' अथवा प्रगतिवाद के प्रश्न से सम्बन्ध रखती हैं। प्रस्तुत समस्या पर विचार करते हुए इन सब बातों को दुहराना आवश्यक नहीं होगा ;

दो-एक बातें जो इस लेख में नहीं कही गईं उनकी विवेचना अन्यत्र हो चुकी है।

साहित्य से प्रगतिशीलता की माँग करनेवाले प्रायः एक मौलिक सत्य को भूल जाते हैं। प्रगतिशीलता कहाँ से उत्पन्न होती है, इसकी परीक्षा करने से पहले एक और बात जानना ज़रूरी है — कि साहित्य—कोई भी कला — कहाँ से उत्पन्न होती है। कला के मूलोद्भव की जाँच करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रगतिवाद का सिद्धान्त राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में भले ही स्वीकार हो सके, साहित्य—साहित्यसृष्टि—के क्षेत्र में अस्वीकार्य ही रहेगा।

साहित्यिक—कोई भी कलाकार—अनिवार्य रूप से अपनी परिस्थितियों का परिणाम होता है। वह अपने आस-पास व्याप रहे संघर्ष का फल है। उसमें आत्यन्तिक सन्तुलन नहीं है, न कभी हो सकता है। साहित्यकार होने के नाते ही वह चंचल है, अस्थिर है, असन्तुष्ट है। उसकी यही अस्थिरता और असन्तोष उसको घेरनेवाले बाहरी संघर्ष का भीतरी प्रतिरूप है। साहित्य — या कैसी भी कलात्मक रचना, सृष्टि — इस मौलिक संघर्ष का नतीजा है, इसे हल करने के लिए कलाकार के प्राणों का उत्कट प्रयास है।*

कला संघर्ष का फल है। अतः कलाकार अनिवार्य रूप से गतिमात्र है, उसमें एक बलवती प्रेरणा काम कर रही है जो उसे स्थिर नहीं होने देती, और जिसके दबाव के कारण वह किसी प्रकार के सामंजस्य की ओर बढ़ता है।

यह गति आगे की ओर है, या पीछे की ओर? प्र-गति है, या प्रति-गति है, या अधोगति है? इसका निर्णय साहित्य के, कला के, भीतर से नहीं होता, भीतर से केवल इतनी ही गूँज आती है कि वह गति है, अरोक गति है। गति का निरूपण करनेवाला, यह फ़तवा देनेवाला कि गति किधर है या किधर होनी चाहिए, कला को एक बाहरी कसौटी पर परखना चाहता है। अर्थात् वह कलाकार नहीं होता, केवल आलोचक होता है।

जब निर्णय के आधार बाह्य हो जाते हैं, तब निर्णय आलोचक के रुख पर निर्भर करता है। निर्णेता की कसौटी राजनीति की हो सकती है, अर्थनीति की हो सकती है, धर्मनीति, समाजनीति या और कोई नीति भी हो सकती है। उसका कोई न कोई 'नीति' होना अनिवार्य है, क्योंकि आलोचक को एक स्थान चुनना है, एक रेखा खींचनी है जिसे रूढ़ि मानकर वह सापेक्ष्य दृष्टि से देखेगा कि कौन-सी वस्तु उस रेखा के आगे है, कौन-सी पीछे, क्या ऊपर है और क्या नीचे।

ठीक यहीं पर प्रगति के 'वाद' की पराजय है, यहीं पर साहित्य अपने को उसके बन्धन से मुक्त घोषित करता है।

*इस सम्बन्ध में देखिए 'कला का स्वभाव और उद्देश्य'।

नीतियाँ सापेक्ष्य हैं। रूढ़ियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। अतः नैतिक कसौटियाँ सापेक्ष्य हैं, प्रगति भी सापेक्ष्य है। फलतः आज जो प्रगति है, कल वही प्रति-गति भी हो सकती है। और यदि ऐसा है, तब प्रगतिवादी आलोचक की कसौटियाँ साहित्य की कसौटियाँ नहीं हैं, क्योंकि साहित्य आत्यन्तिक होने का दावा करता है, शाश्वत और चिरन्तन होने का दावा करता है। वह माँगता है कि जो उस पर निर्णायक बनकर बैठे उसकी कसौटी भी शाश्वत और चिरन्तन हो।

संघर्ष चिरन्तन है। वह शाश्वत और आत्यन्तिक है। इसी लिए मानना पड़ता है कि साहित्य में, कला में, संघर्ष के किसी भी फल में, प्रगति नहीं है, केवल गति है। और प्र-गति वह इसलिए नहीं है कि उसमें ऐच्छिक प्रेरणा नहीं है। 'यह आगे है, मैं इधर ही बढ़ूँ', ऐसी कामना लेकर कला उस दिशा-विशेष में नहीं बढ़ती; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पुरवा हवा यह नहीं सोचती कि' यह पूर्व है, मैं उधर बढ़ूँ।' पूर्व-पश्चिम का सवाल तब उठता है जब हवा किसी ओर को बह निकलती है। कला पर ऐच्छिक नियन्त्रण लगाने से, उसे किसी निर्दिष्ट दिशा में चलाने के प्रयत्न से, विज्ञान मिल सकता है, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि मिल सकते हैं, साहित्य नहीं मिल सकता।

यह बात पहले कही जा चुकी है। प्रगतिवादी के पास इसका उत्तर तय्यार है, कि उसने साहित्य का असर प्रत्यक्ष देखा है। उसके पास प्रमाण है कि साहित्य तूफ़ान बरपा कर सकता है, सिंहासन उलट सकता है, आज़ादी दिला सकता है—यानी प्रगतिशील भी हो सकता है।

इसका स्पष्टीकरण भी पहले हो चुका है—किसी साहित्यिक की रचना का असर तो प्रगति के पक्ष में हो सकता है, पर वह साहित्यिक इच्छा से, पसन्द से प्रगतिशील है, ऐसा नहीं है। यदि वह परिस्थितियों का परिणाम है, एक विशेष प्रकार के संघर्ष से पैदा हुआ है, तब वह जैसा है उसके अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता था। परिस्थिति ने उसे केवल चलने का अधिकार दिया; वह आगे की ओर चले, इस विकल्प का अधिकार उसे नहीं मिला। यह बाद में पैरों की छाप पढ़नेवाले ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार तय करते हैं कि वह किधर गया।

'इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई, इसलिए यह प्रगतिशील साहित्य है, यह कहना एक बात है और 'यह प्रगतिशील साहित्य है, इसलिए प्रगति पैदा करेगा', यह बिल्कुल दूसरी। परिणाम को परखकर उसकी चेष्टा का आरोप बीज पर कर देना भूल है। प्रगतिशीलता साहित्य पर निर्णय करने बैठकर स्वयं एक नैतिक विधान बन जाती है; प्रगति का 'वाद' बनकर स्वयं एक रुढ़ि बन जाती है। साहित्य के लिए तय्यार किये गये बन्धनों में वह स्वयं बँध जाती है।

'किसी साहित्यिक की रचना का असर प्रगति के पक्ष में हो सकता है, पर वह

५

पसन्द से प्रगतिशील नहीं है, एक विशेष परिस्थिति में पैदा होकर वह जैसा है उसके अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता था', इस कथन को एक प्रकार का नियतिवाद कहकर उसकी निन्दा की जा सकती है। किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है। साहित्य में जो प्रेरक-शक्ति होती या हो सकती है, उसकी थोड़ी-सी पड़ताल से यह बात स्पष्ट हो जायगी। साहित्य परिवर्तन की प्रेरणा कैसे देता है? इस सम्बन्ध में हमें इस बात पर ज़ोर देना होगा कि साहित्यकार को केवल अपनी (व्यक्तिगत) और अपने आस पास की (समष्टिगत) अनुभूति से ही सरोकार रखकर सन्तोष नहीं करना चाहिए, उसे निरन्तर इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों का उन अनुभूतियों के बाह्य (Objective) कारणों के साथ सम्बन्ध जोड़ते रहना चाहिए। इस बात का साहित्य की शक्ति के लिए बहुत अधिक महत्त्व है। जब साहित्यकार अनुभूतियों का चित्रण ही नहीं, उससे आगे बढ़कर अनुभूतियों का यथार्थ (Objective) वस्तु-जगत् के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध भी व्यक्त कर देता है, तभी उसे वह तटस्थता प्राप्त होती है और उसकी रचना को वह शक्ति, जो परिवर्तन को सम्भव बनाती है। अन्यत्र* पलायन-चेष्टाओं का जो विवेचन किया गया है, वह भी यहाँ प्रासंगिक है। जीवन से पलायन की प्रवृत्ति कई परिस्थितियों में उत्पन्न हो सकती है, उसका सामना करने की शक्ति स्वयं साहित्यकार में तभी आ सकती है जब वह अनुभूतियों का सम्बन्ध उनके बाह्य अर्थात् परिस्थिति-जन्य कारणों के साथ जोड़े; और इसी से साहित्य दूसरों के लिए भी प्रेरक हो सकता है। साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण-परम्परा जोड़ने की वृत्ति है। और इस प्रकार प्रगति-शीलता सापेक्ष्य और अचिर होने के लाञ्छन से भी बच जाती है—उस तल पर आ जाती है जिस पर साहित्य की परख होनी चाहिए।

क्या लेखक बिकाऊ है?

आधुनिक जीवन की परिस्थितियों का हमारी संस्कृति और हमारे साहित्य पर जो असर पड़ता है, उसकी विवेचना अन्यत्र हो चुकी है। इन परिस्थितियों का सामना साहित्यकार कैसे करे, इसके लिए कुछ एक सुझाव भी पेश किये जा चुके हैं। तथापि समाज 'जैसा है', उससे 'जैसा होना चाहिए' की स्थिति तक पहुँचने के अन्तरावकाश में साहित्यकार के सामने एक समस्या बनी रहती है। 'साहित्यकार' से हमारा अभिप्राय निरे 'लेखक' से कुछ अधिक है—अर्थात् वह व्यक्ति जो लेखन-कार्य को धन-संचय के एक सम्भाव्य निमित्त से अधिक कुछ मानकर मनोयोग-पूर्वक उसकी साधना करता है। यह समस्या 'पारिश्रमिक की समस्या' अथवा 'लेखकों के एक संगठन की

* देखिए 'परिस्थिति और साहित्यकार'—

समस्या' से बड़ी है। पारिश्रमिक की समस्या अन्ततः साहित्यिक समस्या नहीं है, वह आर्थिक समस्या है; क्योंकि वह साहित्यकार की समस्या नहीं, एक पेशेवर आदमी की समस्या है जिसका पेशा लिखना है। इसी प्रकार 'लेखक-संगठन का प्रश्न' मुख्यतः पेशेवर लेखकों के आर्थिक सामाजिक अधिकारों की रक्षा का प्रश्न है।

साहित्यकार प्रबुद्ध प्राणी (Intellectual) है। किसी समय सारे संसार में प्रबुद्ध का सम्मान होता था, किन्तु अब उसके प्रति लोगों का रवैया ऐसा कम होता जा रहा है। अब भी उसके लिए सम्मान कई जगह है, पर क्रमशः यह अन्य प्रकार के भावों को स्थान देता जा रहा है। ये भाव अभी स्पष्टतया सतह पर नहीं आये हैं, फिर भी इतना स्पष्ट है कि अब प्रबुद्ध व्यक्ति के प्रति जन-साधारण का भाव विशुद्ध आदर का नहीं होता। वे उसे किस भाव से देखते हैं, यह उनकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर है। उदाहरणतया श्रमिक-वर्ग उसे अविश्वास की दृष्टि से देखता है। बल्कि कभी-कभी वह उसके प्रति तिरस्कार का भाव भी प्रकट करने का यत्न करता है—यद्यपि जब प्रबुद्ध व्यक्ति उसके वर्ग में आ मिलता है तब श्रमिक उसका नेतृत्व सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

सम्भव है कि श्रमिक के प्रबुद्ध व्यक्ति के प्रति अविश्वास और आतंक के भाव का कारण यह हो कि वह प्रबुद्ध व्यक्ति को भी एक शिल्पी मानता है पर उसके शिल्प का गुर समझ नहीं पाता। मूर्तिकार, संगीतकार, चित्रकार—इन सबको वह समझ सकता है, क्योंकि ये अपने हाथों से काम लेते हैं—उनकी कला का रहस्य 'दीख' सकता है। हाथ और लेखनी, लेखनी और शैली का सम्बन्ध 'दीख' नहीं सकता, वह श्रमिक के लिए चिर-रहस्यमय है। इसलिए श्रमिक उसे सन्देह की दृष्टि से देखता है—वैसे ही जैसे वह अपने उस सहयोगी श्रमिक को देखेगा जो हाथों से कुछ न करता हुआ टोने-टोटके से अपना काम किसी तरह पूरा कर देता है।

दूसरी ओर भद्रवर्ग का व्यक्ति, जिसे बचपन से ही हाथों के श्रम को घटिया और हेच समझने की शिक्षा मिलती है, और जो इस दृष्टिकोण को मन से निकाल फेंकने का सच्चा प्रयास कभी नहीं करता, प्रबुद्ध व्यक्ति के प्रति और ही रुख अख्तियार करता है। जो थोड़ी-बहुत शिक्षा भद्रवर्ग के व्यक्ति ने पाई होती है। यह शिक्षा भी उसके लिए अर्थहीन वाक्यों-तथ्यों को रट लेने से अधिक कुछ नहीं है,—उसके आधार पर वह प्रबुद्ध व्यक्ति को समझ लेने का दावा करता है। सोचने और लिखने की क्रियाओं के बीच की सीढ़ी को वह पहचानता है। श्रमिक से बहुत अधिक उद्धत और कम चिन्ताशील होने के कारण वह साहित्यकार से उसकी सफलता और प्रसिद्धि के लिए ईर्ष्या तो कर सकता है, पर उसका आदर नहीं करता; उसे एक घटिया ढंग का व्यक्ति ही मानता है, अनुग्रह का पात्र समझता है।

इस प्रकार आधुनिक युग में, जब कि बुद्धि की आवश्यकता पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है, प्रबुद्ध व्यक्ति इस दुहरे अज्ञान और उपेक्षा के आगे बेकार-सा हो जाता है। किन्तु इस प्रकार तिरस्कृत होकर भी प्रबुद्ध नाम की कुछ कीमत बनी रहती है, और प्रबुद्ध व्यक्ति—साहित्यकार—वह कीमत पाने के लिए उस नाम को बेच सकता है।

इस बात को आधुनिक व्यापार-युग की परिभाषा में समझा जाय। मान लीजिए कि बुद्धिजन्य वस्तु—रचना—बिकाऊ माल है। इस हैसियत से उसकी एक विशेषता है—कि उसके उत्पादन का समय अनिश्चित है, और इसलिए माल की 'डेलिवरी' अनिश्चित। पर हम जानते हैं कि व्यापार पर टिके हुए हमारे समाज का सन्तुलन इसी बात पर कायम है कि उपज और खपत में सामंजस्य बना रहे—कि उत्पादन की अवधि और डेलिवरी का दिन बिल्कुल निश्चित रूप से आँका जा सके। आधुनिक समाज के बजट में उन वस्तुओं के लिए गुञ्जाइश नहीं छोड़ी जा सकती जिनका 'कोई निश्चित समय' नहीं है।

फलतः हमारे प्रबुद्ध व्यक्ति—साहित्यकार—के लिए इस समाज में जीने का एक ही मार्ग है, कि वह किसी तरह अपने को ऐसे समाज की मान्यताओं के अनुकूल बनाये जो उसके साहित्य की भी 'साख' आँकती है। इसके लिए उसे अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचना पड़ता है—और इस अंश के ग्राहक उसे दो क्षेत्रों में मिल सकते हैं: पत्र-जगत् (जर्नलिज्म) और राजनीति।

'अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की रक्षा के लिए साहित्यकार को उस व्यक्तित्व का एक अंश बेचना पड़ता है।' इस कथन में जो विरोधाभास है उसे हम अभी छोड़ देते हैं। हमें यह देखना है कि इस बाध्यता का असर साहित्यकार पर क्या होता है।

जहाँ तक जर्नलिज्म का प्रश्न है, साहित्यकार के लिए उसका अभिप्राय है अपने विचारों को चलती घटनाओं की चारदीवारी के भीतर बाँधना—घटनाओं की ही नहीं, निश्चित समय और निश्चित अवकाश की भी दीवारों के भीतर बाँधना। ये तीनों तथ्य उसके वश में नहीं हैं; इन्हें वह उसी प्रकार स्वीकार करने को बाध्य है जैसे शिल्पी नये माध्यम की विशेषताओं को स्वीकार करने को बाध्य होता है। प्रबुद्ध वर्ग के स्वाधीन प्राणी के पास सिद्धान्त रूप से समय और अवकाश और लिखने के साधन असीम होते हैं; जर्नलिज्म में वह निश्चित समय के, निश्चित स्थान के, और सब की समझ में आ सकनेवाली भाषा के बन्धनों में अपने विचारों को अनूदित करने को बाध्य है। अर्थात् जर्नलिज्म में आकर साहित्यकार भी एक उत्पादक हो जाता है—श्रमजीवी संसार की काम करने की व्यापक ताल पर उसे भी नाचना पड़ता है।

इसका असर प्रतिकूल ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। जर्नलिज़्म के दबाव से

विचारों का स्पष्टीकरण भी हो सकता है। बहुधा 'प्रबुद्ध' व्यक्ति के विचार स्पष्ट नहीं होते—और जब ऐसा होता है तब वह 'आत्मरक्षा' की मनोवैज्ञानिक क्रिया के कारण उसे और भी उलझाने लगता है और अपने को विश्वास दिलाना चाहता है कि वह विचार में गहरा पैठ रहा है जब कि वास्तव में विचार को भावों के सागर में डुबा रहा है। प्रबुद्ध व्यक्ति की साहित्यिक कृतियों की 'गहराई' कई बार अपर्याप्त मानसिक परिश्रम का ही परिणाम होती है—व्यक्ति अपने को अपनी ही आत्मीयता में डुबो लेता है! दूसरों के लिए उस विचार को स्पष्ट करने की बाध्यता से विचार को छानना पड़ता है, 'तलछट' को अलग करके सार को सामने लाना होता है।

इस प्रकार जर्नलिज़्म एक प्रकार का व्यायाम हो जाता है, और व्यायाम का-सा कठिन नियंत्रण माँगता है।

राजनीति के क्षेत्र में परिस्थिति भिन्न होती है। राजनीति का क्षेत्र इतना साफ़ नहीं है। प्रबुद्ध पत्रकार से यह आशा की जाती है कि वह अच्छा पत्रकार हो, पर राजनीति के क्षेत्र में प्रबुद्ध व्यक्ति का 'उदार' और समझौतावादी होना ही ठीक समझा जाता है, क्रियात्मक आन्दोलन में भाग न लेना ही उचित माना जाता है।

इस स्थिति को भी व्यापार की भाषा में अनूदित करके कहा जाय, तो कह सकते हैं कि प्रबुद्ध व्यक्ति और राजनैतिक दल के मिल जाने से उनकी पूँजी बढ़े बिना ही दोनों की साख बढ़ जाती है। प्रबुद्ध व्यक्ति के किसी राजनैतिक संस्था के साथ लग जाने से उसे कोई कठिनाई तो होती नहीं, एक प्रतिष्ठा बन जाती है, समाज में एक निश्चित स्थान बन जाता है। दूसरी ओर राजनैतिक संस्था को किसी प्रबुद्ध व्यक्ति के साथ के कारण अपनी सदस्य-संख्या बढ़ाने में सुविधा हो सकती है।

किन्तु यह तभी है, जब प्रबुद्ध व्यक्ति का राजनैतिक संस्था के साथ सहयोग ऊपरी रहता है—जब संस्था और वह एक दूसरे को केवल अपने नाम का सहारा देते हैं। यदि लेखक और आगे बढ़कर राजनैतिक कार्यकर्ता बन जाता है,—अर्थात् संस्था का अनुशासन स्वीकार कर लेता है, उसके उद्देश्य अथवा ध्येय की सिद्धि के लिए उसके द्वारा सिपुर्द किया गया काम करने लगता है, आन्दोलनकारी हो जाता है, संस्था का एक अङ्ग बन जाता है,—तब परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है। तब उसके मार्ग में अनेक रुकावटें आती हैं। कहा जा सकता है कि तब उसे 'प्रबुद्धिता' की ऊँची पीठिका से उतरकर नीचे आना पड़ता है, साधारण जनता के तल पर आकर बात करनी पड़ती है। यह उसके लिए हितकर हो सकता है, क्योंकि प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए यह ख़तरा बना ही रहता है कि वह जनता से, यथार्थता से, सम्पर्क छोड़ बैठेगा। प्रबुद्ध व्यक्ति से समाज की सच्ची शिकायत यही हो सकती है कि वह विचारों के, जीवन-सम्पन्न जागरूकता के, एकमात्र मूलस्रोत से—अपने वर्तमान की यथार्थता

से—परे हट गया है। इस लाञ्छन का पात्र प्रबुद्ध व्यक्ति को नहीं बनाना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस शोचनीय अवस्था से बचने के लिए साहित्यकार को अपनी अनुभूतियों का बाह्य, परिस्थिति-जन्य Objective यथार्थता के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध जोड़ने के लिए यत्नशील रहना चाहिए। यदि वह साहित्यकार होने के साथ 'प्रबुद्ध' व्यक्ति है, तब उसमें अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक अच्छी विचार-शक्ति तथा योजना-शक्ति होनी चाहिए, अर्थात् उसके विचारों और योजनाओं को अन्य व्यक्तियों के विचारों और योजनाओं से सम्बद्ध होना चाहिए।

इन बातों को समझकर साहित्यकार आधुनिक परिस्थिति की एक बड़ी समस्या से बच सकता है, अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचने की बाध्यता का सामना सफलता-पूर्वक कर सकता है। जर्नलिज़्म और राजनीति के क्षेत्र में मजबूरन प्रवेश करके भी-फिर मजबूरी चाहे आर्थिक विवशता हो चाहे एक अस्पष्ट नैतिक बाध्यता—प्रबुद्ध व्यक्ति उनसे लाभ उठा सकता है; अपना नव-निर्माण कर सकता है और 'परिस्थति' के भीतर ही अपने लिए एक 'सन्तोषजनक' परिवृत्ति गढ़ सकता है। बिक्री के लिए नीलाम के तख़्ते पर चढ़ाए जाना उसकी परीक्षा है, और यथार्थ-दर्शन उसकी सफलता का पुरस्कार। जहाँ तक ख़तरे का सवाल है, खतरा तो संघर्ष के युग का, संक्रान्तिकाल का, धर्म ही है!

चेतना का संस्कार

मानव के लातीनी नाम का अर्थ होता है 'बुद्धि-प्राण जीव।' निस्सन्देह यह मानव की एक शक्ति की प्रशस्ति है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस शक्ति का उचित प्रयोग प्रत्येक मानव करता है। चेतन तो प्रत्येक मानव है, परन्तु यह चेतना उस सीमा तक उपेक्षाकृत बहुत कम व्यक्तियों में पहुँचती है, जिस पर पहुँचकर वह बुद्धि की अभिधा प्राप्त कर सके। आज मानव की किसी शक्ति का प्रयोग हम व्यापक रूप में देख सकते हैं, तो वह वास्तव में मानव की कोई शक्ति नहीं है; मानव द्वारा वशीकृत जड़ पदार्थ की शक्ति है। आज निस्सन्देह सत्ता का युग है, लेकिन वह सत्ता पैसे की है, धातु की है, यन्त्र की है, आर्थिक सगठन की है।

क्या यह परिस्थिति वांच्छनीय है? क्या, जैसा कि कुछ लोगों का दावा है, यह वास्तव में जनतंत्र के चरम विकास की अवस्था है? क्या जो संघर्ष आज संसार को व्याप रहा है, और जिसका प्रत्येक परिवर्तन उसे व्यापकतर बनाता जा रहा है, वह वास्तव में उसी सत्ता के विकास से उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे हम संस्कृति और संस्कृति का मुकुट जानते हैं? सूत्ररूप में कहा जाता है कि यह संघर्ष दो विचार-परिपाटियों का संघर्षण है--जनतंत्रवाद का और अधिनायकवाद का। किन्तु क्या गहराई तक जाकर देखने से यही परिणाम नहीं निकलता कि इन दोनों का संघर्ष दो अत्यन्त भिन्न शक्तियों का संघर्ष नहीं, बल्कि एक ही शक्ति के अनिवार्य अन्तर्विरोध का भीषण विस्फोट मात्र है? उलझन के युग में अकेली बुद्धि अपर्याप्त जान पड़ने लगती है, किन्तु हमें पहले समस्याओं को बुद्धि के प्रकाश में तो देखना ही चाहिए। बुद्धि अपर्याप्त हो सकती है, किन्तु ऐसी पूर्वधारणा बनाकर चलना भूल होगी, और ऐसा परिणाम निकालने के लिए बुद्धि का प्रयोग आवश्यक होगा।

सबसे पहले अपने युग की कुछ विशेषताओं का निरूपण किया जाय। युग-लक्षणों में पहला यह है कि हमारे पास अभूतपूर्व सत्ता है। इतनी सत्ता किसी युग में किसी जाति या समाज या वर्ग के पास नहीं हुई। यांत्रिक आविष्कारों की सहायता से हमने अपनी मूल शारीरिक सामर्थ्य को बहुत प्रसारित कर लिया है। बोझा उठाने की मशीनों के द्वारा हमने अपनी भुजाओं का बल सहस्र गुना बढ़ा लिया है। रेलों और मोटरों के आविष्कार से हमने अपने पैरों की गति असंख्य गुना तीव्र कर ली है, विराट् उत्पादन की कलें मानो असंख्य नये मज़दूर हैं और अनेक प्रकार के गणक यंत्र मानो उतने ही परिष्कृत सहायक मस्तिष्क हैं।

सत्ता के इस बहुमुख अधिकरण का परिणाम क्या हुआ है ? स्पष्ट है कि हमारी सामर्थ्य—रचना करने की भी और विनाश करने की भी—पिछले किसी भी युग की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गई है। लेकिन शोचनीय बात यह है कि इस शक्तिवृद्धि के साथ हमारी विवेकवृद्धि उसी अनुपात में नहीं हुई। सत्ता हमारे पास है, सत्ता का ज्ञान भी हमें है, लेकिन सत्ता का उचित प्रयोग करने की समझ हमें नहीं है। अपनी इस विराट् सत्ता के आगे हम स्वयं विवश-से हैं। हम कह कसते हैं कि सत्ता और विवेक का यह वैषम्य, यह मौलिक विसंगति ही हमारी सभ्यता का विशेष लक्षण है—सभ्यता का विशेष लक्षण भी, और विशेष खतरा भी। हमारी सभ्यता की और हमारे युग की बुनियादी समस्या यही है कि किस प्रकार अपने विवेक का इस हद तक परिष्कार किया जा सके कि हम अपनी बढ़ी हुई और बढ़ती हुई शक्ति की ललकार का सामना कर सकें, उस शक्ति को कूलबद्ध करके नियमित करने की सामर्थ्य अपने भीतर उत्पन्न कर सकें।

समस्या का यह उदाहरण लीजिए। प्राकृतिक साधनों का, अर्थात् जीवन के स्थूल उपकरणों का, नियंत्रण करने में हम अपने पूर्वजों से कहीं आगे बढ़ गये हैं। किन्तु व्यक्तिगत आचार नियंत्रण के क्षेत्र में हमने क्या किया है ? और सामाजिक जीवन के नियंत्रण में हम कितना आगे बढ़े हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि पहले क्षेत्र में हम मनु या याज्ञवल्क्य से, या दूसरे प्राचीन जनपदों से या यूनानी जनतंत्र से उसी अनुपात में आगे बढ़ गये हैं, जितना कि कृषि-विज्ञान के क्षेत्र में आज का ट्रैक्टर (Tractor) प्राचीन युग की मिट्टी गोड़ने की खुरपी है ? हमें मानना पड़ेगा कि भौतिक विकास के साथ हमारा आत्मिक विकास नहीं चल सका है।

यह वैषम्य इतना तीव्र है कि कहीं-कहीं यह शंका भी होने लगती है कि शायद भौतिक विकास के साथ-साथ हमारा आध्यात्मिक ह्रास होता गया है— कि भौतिक शक्तियों पर हमारी पकड़ जितनी दृढ़ होती गई है, आत्मा की प्रवृत्तियों पर हमारा वश उतना ही निर्बल होता गया है। धर्म का—चाहे उस धर्म को एक रूढ़ि ही कह लें—महत्त्व आधुनिक जीवन में घटता गया है और नैतिकता की चेतना क्षीण होती गई है। फलतः एक विशेष प्रकार का भोगवाद आधुनिक मानव के मन पर छाता गया है, और उसकी नैतिकता की आंखों की ज्योति मन्द पड़ती गई है। उसकी नैतिक दृष्टि ने तात्कालिक अगले कदम से परे कुछ भी देखना अनावश्यक मान लिया है। तात्कालिक सुख, तात्कालिक सिद्धि, तात्कालिक सफलता ही मानो उसके प्रत्येक कार्य की एक मात्र कसौटी हो गई है। इसे छोड़कर कोई दूसरी कसौटी उसे सहन नहीं होती, और दूसरी ओर इस कसौटी से यदि उसकी बुद्धि अथवा चेतना बिल्कुल ही भर नहीं गई है तो उसे कोई स्थायी सन्तोष या शक्ति नहीं मिलती। इस विराट् क्रिया को सम

भने के लिए आधुनिक हिन्दी-काव्य में बड़े वेग के साथ जो भोगवादी लहर आई, और उतने ही वेग के साथ स्खलित और खण्डिता होकर एक विक्षोभ और अपर्याप्तता की भावना में परिणत हो गई, वह इसका एक सांकेतिक उदाहरण है।

यह परिस्थिति-वैषम्य क्रमशः कितना असह्य होता जा रहा है, इसका न्यूनाधिक अनुभव अनेक विचारकों ने किया है। उदाहरणतया वेल्स ने बार-बार यह कहा है कि आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी त्रुटि और सबसे बड़ा खतरा यही है कि उसने युवाओं और युवतियों की शक्तियों के लिए उपयुक्त मार्ग, प्रतिभा के लिए उपयुक्त क्षेत्र, और आकांक्षाओं के लिए उपयुक्त वस्तुएं नहीं प्रस्तुत कीं। आधुनिक मनस्तत्त्ववेत्ताओं ने तो बार बार सभ्यता की इस अक्षमता और अपर्याप्तता का उल्लेख किया है।

संक्षेप में, इस वैषम्य ने विफलता और असन्तोष की जो भावना उत्पन्न की है, उसके भीतर से या उसकी आड़ में से दो प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रकट होती हैं, जिनकी रचनात्मक सम्भावनाएं हो सकती हैं। पहली, अपने भौतिक और आध्यात्मिक विकास की विसंगति का—अपने ज्ञान और अपने विवेक की विषमता का—अनुभव; दूसरी, शिक्षित और संस्कृत व्यक्तियों को सन्तुष्ट कर सकनेवाली किसी धार्मिक रूढ़ि की कमी और इस शून्य से उत्पन्न होनेवाला असन्तोष और आन्तरिक आक्रोश। इन दोनों प्रवृत्तियों से पार पानेवाला जीवन की उद्देश्यहीनता का ज्ञान मानव को प्रेरित करता है, कि वह नये उद्देश्य की खोज करे। प्रकृति का नियम है कि वह शून्य को सहन नहीं करती, भौतिक विज्ञान का यह सत्य आध्यात्मिक क्षेत्र में भी लागू होता है। इसी बात को किसी दार्शनिक ने यों कहा है कि मानव स्वभावतया श्रद्धावान् है, यदि उसे श्रद्धा के लिए योग्य पात्र नहीं मिलेगा, तो वह उसे अयोग्य पात्र को ही दे देगा। निस्सन्देह मानव अपने ह्रासगत धर्म और आचार शास्त्र के स्थान में किसी नई पद्धति की उद्भावना करेगा। ऐसा कब होगा, यह नहीं कहा जा सकता। कहा केवल इतना जा सकता है, कि ऐसा होना अनिवार्य है।

यदि यह ठीक है, कि सभ्यता की वर्तमान अवस्था की मूल विसंगति यही है कि उसने साधनों के विकास और नियंत्रण की दौड़ में साध्य को भुला दिया है; तब परिणाम यह निकलता है कि परिस्थिति का सुधार करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन के लिए नये साध्य, नये उद्देश्य खोज निकाले, नये आदर्शों की प्रतिष्ठा करे। किन्तु आदर्श तो मानव की चेतना के ही अनुरूप हो सकते हैं। उसकी चेतना जितनी अधिक या कम विकसित होगी, उसको उतना ही दूरव्यापी या तात्कालिक आदर्श आकर्षित करेगा। अभी तक मानव के कार्यों की मौलिक प्रेरणाएँ स्वार्थ और अहङ्कार से अनुप्राणित रही हैं। इसी लिए अभी तक मानवीय चेतना के लिए सत्ता का—सम्पत्ति और सुख का—आकर्षण सबसे तीव्र रहा है। इस परिस्थिति में सुधार तभी

सम्भव है, जब कि मानव नये आदर्शों की स्थापना करे—अर्थात् उसके कर्म एक नये प्रकार की प्रेरणा द्वारा अनुप्राणित हों—मानव ही एक नये प्रकार का प्राणी हो। यदि हमारा अब तक का विकास कुछ भी अर्थ रखता है, तो उसकी माँग यह है कि हम जीवन के प्रवाह की दिशा को बदलें। या यों कहें कि सभ्यता के विकास की गति में हम जहाँ तक पहुँच गये हैं, उससे आगे बढ़ने के लिए मानवीय चेतना को परिष्कृत करना, उसे एक नया संस्कार देना अनिवार्य है।

यदि हम जीवन-विकास का क्रमागत अध्ययन करें, तो हम पायेंगे कि इसे दो मुख्य युगों में विभाजित किया जा सकता है। पहला युग मुख्यतया शारीरिक विकास का युग था। प्रारम्भिक कोषबद्ध जीवाणु से उत्तरोत्तर बड़े जीवों का विकास हुआ, और फिर निरी स्थूलता को छोड़कर विकास की गति अधिक जटिल आकारों का निर्माण करने लगी। अमीवा (Amoeba) से लेकर डाइनोसार (dinosaur) अथवा ब्रांटोसार (brontosaur) आदि महाकाय जन्तुओं तक पहुँचकर प्रकृति के कुशल हाथों ने अन्य प्रकार के जीव-जन्तु बनाने आरम्भ किये, जो इनसे अधिक बड़े नहीं लेकिन अधिक समर्थ थे। इसी क्रम में अनेक प्रकार के बन्दर आये और फिर प्राकृतिक सृष्टि का अवांतर मानव। मानव निरे शारीरिक विकास की मानो अन्तिम सीढ़ी है। यहाँ से और आगे बढ़ने के लिए विकास की क्रिया को एक नई दिशा ग्रहण् करनी पड़ी—विकास के दूसरे युग का आरम्भ हुआ, जिसे हम वैज्ञानिक युग अथवा आविष्कार-युग कह सकते हैं। इस युग में मानव ने नये नये आविष्कारों द्वारा अपनी सत्ता को प्रसारित और अपने जीवन-क्षेत्र को विकसित किया। इस क्रिया को जीव-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि इस प्रकार मानव ने अपने शारीरिक सामर्थ्य को ही नई दिशाओं में विकसित किया। क्योंकि ये सब यन्त्र और कलें मानव के लिए नये अंग और नये अवयव होती हैं।

निस्सन्देह वैज्ञानिक विकास का युग शारीरिक विकास के युग की तुलना में बहुत अल्पकालिक रहा है, किन्तु इन कई हज़ार वर्षों के आविष्कारशील जीवन के बाद ऐसा जान पड़ने लगा है कि यह दूसरा युग भी समाप्त हो चला है। नये आविष्कारों के बीच भी ऐसे लक्षण दीखने लगे हैं, जिनसे शंका होती है कि युगान्तकालीन ह्रास का आरम्भ हो गया है। उदाहरणतया विज्ञान में विशेषीकरण (specialisation) बढ़ता जा रहा है, और समन्वय की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं है। वैज्ञानिक लोग अपने क्षेत्र में नित्य नये आविष्कार करते हैं; परन्तु ये आविष्कार एक दूसरे पर घटित नहीं किये जाते, अत्यन्त असम्बद्ध ही रह जाते हैं। ज्ञान की इन विभिन्न प्रवृत्तियों को एक ही सूत्र में गूँथनेवाली शक्ति—दर्शन अथवा अध्यात्म अथवा धर्म—की सब ओर उपेक्षा होती है। साथ ही नित्य नये उपकरण आविष्कृत हो जाते हैं, नये

साधन जुटते जाते हैं, जिनका उपयोग करने की योग्यता हममें नहीं है।

इन संकेतों से एक नये युगपरिवर्त्तन की सम्भावना होती है। विकास क्रमागत होता है, लेकिन यह स्थापना डार्विन के समय ही हो गई थी कि विकास-गति में इस क्रमागत परिवर्त्तन के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का अनियमित परिवर्त्तन भी होता है, जिसे हम दिशा-परिवर्त्तन (mutation) कह सकते हैं। यों कहें कि जब किसी एक दिशा का विकास अपनी अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाता है, तब किसी ऐसे अनियमित परिवर्त्तन द्वारा ही उसकी शक्ति एक नई दिशा में प्रवाहित हो जाती है। यदि ऐसा न होता, तो विकास-गति अब तक अनेक बन्द गलियों या कटरों में उलझकर रह गई होती।

प्रश्न होता है, कि यदि हम किसी ऐसे मौलिक परिवर्त्तन की देहरी पर खड़े हैं, तो वह परिवर्त्तन कौन-सी दिशा लेगा, और उसके सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य क्या है? इसका उत्तर संकेत रूप में दिया जा चुका है। शरीर के और बुद्धि के विकास के बाद अब उसकी गति हमारे जीवन के तीसरे स्तर को अपनायेगी—अर्थात् विकास अब चेतना के क्षेत्र में क्रियाशील होगा। मानव को एक नई संवेदना शक्ति, एक नई आत्मा, एक नई और अधिक विस्तृत चेतना प्राप्त करनी होगी, जिसके द्वारा वह जीवन के नये साध्यों की उद्भावना कर सके, और उनका अनुसरण कर सके—ऐसे साध्य, ऐसे आदर्श, जो साधनों पर पाई हुई उसकी सम्पूर्ण विजय के अनुरूप हों। किन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब कि स्वयं मानव ही इसमें योग दे। विकास की—जीवन की ही—गति क्रमशः तीव्रतर होती जा रही है, और युगपरिवर्त्तन अपेक्षाकृत कम काल में होते हैं। एक युगान्त और दूसरे युगान्त के बीच का अन्तराल—युगारम्भ और युगान्त के बीच की अवधि—छोटी होती जाती है, और उससे लाभ उठाने के लिए हमारा उसमें सहायक होना आवश्यक हो गया है। और अब, जब चेतना के ही संस्कार का प्रश्न है, तब यह एकान्त अनिवार्य है कि उसमें हमारा सचेतन उद्योग लगा हो। विकास की अगली सीढ़ी में मानव की कल्पना भी प्रासंगिक हो गई है।

समस्या जितनी स्पष्ट है, उसका अन्तिम निराकरण उतना स्पष्ट तो नहीं है। न यह आवश्यक ही है कि वह उतनी स्पष्ट हो। वैसे चेतना के पुनः संस्कार के परिणामों का कुछ स्थूल निरूपण अवश्य हो सकता है। सबसे महत्त्व की बात यह होगी कि हमारे चेतन और अवचेतन मतों के अवरोध मिट जायँगे। चेतन और अवचेतन के बीच जो अवरोध और विपर्यास इस समय दीखता है, और जो आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे क्रमशः स्पष्टतर होता गया है, वह शायद उसी के सहारे दूर भी हो जायगा। तब इस अन्तर्विरोध की हालत में स्थायित्व लाने के गुरुतर कार्य में लगी हुई हमारी शक्तियाँ चेतन और अवचेतन के संघर्ष का दमन करने में व्यय होनेवाली आत्मिक शक्ति का

अजस्र भण्डार इस कार्य से मुक्त होकर पुनः रचनात्मक कार्य के लिए उपलब्ध होगा। हम यह ज्ञान प्राप्त करेंगे कि जीवन मात्र एक अखण्ड इकाई है। जिसके साथ हमारा चेतन-सम्बन्ध भी उतना ही गहरा होगा, जितना कि हमारे बिना जाने हमारे अवचेतन का सम्बन्ध रहा है। नई अन्तर्दृष्टि पाकर हम सत्य के निकटतर जा सकेंगे; तत्व-चिन्तन ही नहीं, प्रत्यक्ष तत्वज्ञान भी प्राप्त कर सकेंगे। और यद्यपि यह सूझ अभी कुछ हास्यास्पद-सी जान पड़ेगी—हम कामवासना के चंगुल से निकल सकेंगे। शायद वेदना की अनुभूति से ऊपर उठ सकेंगे, और निस्सन्देह मानवीय सम्बन्धों और व्यापारों के लिए कोई अहिंसा-मूलक आधार ढूंढ़ निकालेंगे।

आस्तिकता के प्रश्न को एक तरफ़ भी रख दें, तो भी विकास की गति के सम्बन्ध में एक प्रश्न अवश्य उठता है, क्या विकास का कोई ध्येय है? जिस बृहत् और व्यापक क्रिया को आज विकास की अभिधा से जानते हैं उसके पीछे कोई उतना ही विराट् रचनात्मक उद्देश्य भी है, या वह केवल एक स्फुरण है, जो देश, काल और परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्त्तनों के अनुरूप बदलती रहती है, और इससे विशालतर कोई अर्थ, कोई अभिप्राय नहीं रखती? आधुनिक जीव-विज्ञान के पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। वह अधिक से अधिक यही कहता है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि विकास सोद्देश्य है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रायः इस बात को स्वीकार करने को तय्यार् नहीं होंगे कि विकास सोद्देश्य है। क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि एक शक्ति आरम्भ में अन्धी रही हो और विकास-क्रम में 'सप्राण' हो जाय, सोद्देश्य रूप ग्रहण कर ले? दूसरी ओर यदि वह आरम्भ से ही सोद्देश्य थी, तो क्यों नहीं आरम्भ से ही हमें चैतन्य के लक्षण दीखते, क्यों जीव-युग अपेक्षाकृत इतना छोटा है? ये प्रश्न विचारणीय अवश्य हैं, किन्तु जहाँ वैज्ञानिक यह कहता है कि सोद्देश्यता का कोई प्रमाण नहीं है, वहाँ उसे यह भी स्वीकार करना ही चाहिए कि उसके विरुद्ध भी कोई अकाट्य युक्ति नहीं है। यदि जड़ से जीवन की सृष्टि हो सकती है—जैसा कि विकास-वाद का बुनियादी सिद्धान्त है—तो इस क्रिया की अगली सीढ़ियाँ भी बहुत स्वाभाविक जान पड़ती हैं। जड़ से जीवित, जीवित से चैतन्य, चैतन्य से प्रेरणायुक्त अथवा सोद्देश्य.....यह सिद्धान्ततः असम्भव तो नहीं है कि विकास-क्रिया आरम्भ से ही सोद्देश्य रही हो—कम से कम इस अर्थ में कि आगे चलकर सोद्देश्य हो जाना उसकी गति में निहित था...

एक दूसरा प्रश्न भी उपर्युक्त अवधारणा से उठता है। मानव की 'अधिक विकसित चेतना' किस ओर उन्मुख होगी? चेतना है, तो उसका कोई विषय होना अनिवार्य है, जिसको चेतना वह हो सके। अर्थात् चेतना के ऊंचे या नीचे स्तर की परख उसके विषय की सूक्ष्मता अथवा स्थूलता से ही हो सकती है। निस्सन्देह ऐसी विचार-

धारा हमें एक प्रकार के नूतन रहस्यवाद की ओर ले जाती है ; और अनेक प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों में रहस्यवाद का पुट है भी। विचारकों में भी एल्डस हक्सले की परिकल्पना बहुत कुछ भारतीय रहस्यवादियों से मिलती-जुलती है, और उसकी दार्शनिक प्रणाली योगदर्शन से स्पष्टतया प्रभावित है। हो सकता है कि अन्ततोगत्वा इस 'विकसित चेतना' का विषय स्वयं मानव की आत्मा हो, कि वह चेतना अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्त्व के चिन्तन-अन्वेषण में लीन हो जाय। किन्तु इस प्रश्न का तात्कालिक महत्त्व नहीं है ; यदि हम स्वीकार कर लेते हैं कि विकास की अगली सीढ़ी मानवीय चेतना का ही नूतन संस्कार है ; यदि यह स्थापना ठीक है तो तात्कालिक समस्या है संस्कृति की—जीवन के मानों के पुनः मापन की, मूल्यों के अभिनव मूल्यांकन की—क्योंकि चेतना का संस्कार इसी मार्ग से हो सकता है। चेतना द्वारा अब तक जो कुछ अवगत हो सका है, संस्कृति उसी का तत्त्वभाग है; भविष्य में जो कुछ अवगत होगा, उसकी ओर हम इसी द्वार से बढ़ सकते हैं, इसकी उपेक्षा करके नहीं। चेतना का विकास मूलतः संस्कृति का विकास है।

परिशिष्ट

'केशव की कविताई'

(एक वार्तालाप)

[बलराज और त्रिपाठी]

बलराज : कहिए, त्रिपाठीजी, किस धुन में हैं आप ?

त्रिपाठी : कुछ नहीं भाई, यों ही केशव की बात सोचता चला जा रहा था—

बल० : कौन केशव ? वही जो आई० सी० एस० में—

त्रिपाठी : नहीं भाई, नहीं ! मैं सोच रहा था महाकवि केशवदास की बात—

बल० : अच्छा, वह केशवदास ! लेकिन त्रिपाठीजी, उस मनचले रंगीले को आप महाकवि कहते हैं ? उसकी कविता तो बिल्कुल वाहियात है !

त्रिपाठी : आपकी तो राय पुराने कवियों के बारे में हमेशा प्रेजुडिस्ड रही है।

बल० : मेरी राय और प्रेजुडिस ? अच्छा, आप बताइए, आजकल के जमाने में राह-चलती औरतों से कोई चुहल करता है, उन पर शेर कसता है, तो आप उसे क्या कहते हैं ? आप कहते हैं कि शोहदा है—हाँ, आप शोहदे को संस्कृत में 'लम्पट' कहना ज्यादा पसन्द करें तो दूसरी बात है। केशव की कविता भी वैसी ही है - उसने राह चलतों पर नहीं कही, दरबारों में राजों के या रईस-उमरा के आगे कही तो इससे क्या कविता का स्वभाव बदल गया ? प्रेजुडिस आपमें है या मुझमें ? बल्कि केशव ने दरबारों में ही क्यों, राह चलतों पर भी कही जरूर है।

त्रिपाठी : कब ? कोई मिसाल ?

बल० : वह बालोंवाली बात ही लीजिए—बुढ़ापे में भी केशव को यही सूझता था कि किसी भली औरत ने आकर बाबा कहकर पैर छुये तो बोले,

> केशव केसनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहिं
> चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं !

यह कविता है ?

त्रिपाठी : भाई, सुनो ! तुम इसका एक ही पक्ष क्यों देखते हो ? यह नहीं देखते कि उनकी उक्ति में चमत्कार कितना है, भाषा का भी और अर्थ का भी ? हालाँकि यह बात केशव की नई नहीं है, उससे पहले भी संस्कृत के कोई कवि कह गये थे, पर फिर भी—

बल० : यह और लीजिए। सड़ी-सी बात, वह भी पुरानी, फिर आप कहते हैं

महाकवि । अच्छा, इस बात को जाने दीजिए, और कविता लीजिए। आप केशव पढ़ते ही हैं, तो आपको और भी कई कवित्त उनके याद होंगे—सोचिए तो भला उन्होंने कविता के विषय क्या चुने हैं। वेश्या की चितवन पर सवैया कहा है—'जो चितवै वह वार-वधूटी'। फिर अभिसारिका के वर्णन में क्या नाजुक ख़याली है—'चालि है क्यों चन्दमुखी कुचन के भार भये कंचन के भार ही लचकि लंक जाति है'। और वह तो आप को याद होगा ही—

तोरि तनी टकटोरि कपोलनि जोरि रहे कर त्यों न रहौंगी।
पानि खवाइ सुधाधर पान कै पाइ गहै तस हैं न गहौंगी।
केसव चूक सबै सहिहौं मुख चूम चलै यह तो न सहौंगी।
कै मुख चूमन दै फिरि मोहि कै आपनि धाय सों जाय कहौंगी!

त्रिपाठी : (हँसकर) मैं तो केशव पढ़ता ही हूँ, आपने याद भी कर रखा है। एक तो यही उनके कवित्व का प्रमाण है। दूसरे जिस नाजुक ख़याली की निन्दा आप कर रहे हैं, वह कहाँ से आई, यह भी आपने सोचा है?

बल० : हाँ, मैं जानता ही था कि आप थोड़ी देर में उर्दू-फारसी कविता की बात करेंगे। इसमें शक नहीं कि उर्दू में ये सब बातें थीं और अब भी हैं, और उर्दू भी चमत्कार के पीछे बुरी तरह पड़ी रही है; पर जहाँ उर्दू पली, वहाँ के जीवन से वह मेल तो खाती है? हिन्दी—

[आनन्द का प्रवेश]

आनन्द : ओहो, आज यह अनोखा मेल कैसा? ईस्ट इज़ ईस्ट एण्ड वेस्ट इज़ वेस्ट, पर आज दोनों मिल गये!

बल० : तभी तो यह रस्साकशी हो रही है। केशव की कविता पर बहस है।

त्रिपाठी : बलराज केशव की निन्दा कर रहे हैं।

आनन्द : क्या बात है भाई, मैं भी सुनूँ—

बल० : मैं कह रहा था कि केशव की कविता कुछ नहीं है, चमत्कार के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाये गये हैं।

त्रिपाठी : आप कह रहे थे कि उर्दू में यह दोष इसलिए नहीं है कि वह अपने आसपास के जीवन से मेल खाती है, जब कि हिन्दी—

बल० : हाँ।

आनन्द : तो तुम्हारा मतलब यह कि जो अपने युग की उपज हो वह ठीक, जो नहीं, वह ग़लत?

बल० : ऊँ—हाँ!

आनन्द : भाई, केशव तो मैंने बहुत नहीं पढ़ा, पर ऐसी साधारण बातों में मुझे मज़ा आता है। अच्छा, यह बताओ, केशव की कविता क्यों नहीं अपने ज़माने की उपज थी? ज़रा उसके 'बैकग्राउंड' की तरफ ध्यान दो। राजनैतिक अदल-बदल के कारण वीर-काव्य का रुक जाना स्वाभाविक ही था, उसके बाद हारी हुई हिन्दू जनता के लिए भक्ति की ओर झुकना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि आँख फूट जाने पर किसी का सहारे के लिए दीवार या लकड़ी टटोलना। था कि नहीं?

बल० : हाँ।

आनद : इस तरह भक्ति काव्य शुरू हुआ। साथ ही सामाजिक कारण भी खड़े हुए - ऊँच-नीच और जात-पात के रीतिरस्म पर लोगों का भरोसा कुछ कम होने लगा, वगैरह। इस तरह भक्तिमार्ग की कई शाखाएँ हो गईं - —सबने अपने-अपने आसपास की जमी हुई रूढ़ियों को अपना लिया – जिससे रामभक्ति, कृष्णभक्ति, सूफ़ीमत वगैरह की अलग ढंग की कविता सामने आई। ये सब जमाने की उपज थीं, तुम मानते हो?

बल० : हाँ।

आनन्द : अच्छी बात है। यह भी तुम मानोगे कि भक्तिकाल में प्रेम का बयान भी कवि किसी देवता का आश्रय लेकर ही करेगा——यानी प्रेम की भावना का देवी देवता पर आरोप करेगा — या उसे भक्त के प्रेम का ही रूप देकर के दिखायेगा?

बल० : मैं ठीक समझा नहीं।

आनन्द : मैं अभी समझाता हूँ। आजकल व्यक्तिवाद का जमाना है, आदमी अपनी बात कहता है तो कोई बुरा नहीं मानता क्योंकि वह हर किसी का हक़ समझा जाता है। इसी लिए आज के कवि अपने प्यार का रोना रोते हैं। भक्ति-काल में यह बात नहीं हो सकती थी; पर प्रेम की भावनाएँ तो सदा होती रही हैं, इसलिए उस जमाने का कवि अपनी भावनाएँ देवी देवताओं पर या कृष्ण और गोपियों पर रोप देता था। इसी लिए उस जमाने में रासक्रीड़ा की और ऐसी बातों की इतनी चर्चा भक्ति की भी कविता में रही। केशव ने भी ऐसी कविता की, और बहुत अच्छी की। जैसे 'चंचल न हूजे नाथ अंचल न खैंचो हाथ' वाला जो कवित्त है, उसका भाव तो मानव का ही है, पर राधा-कृष्ण की आड़ में कहा गया है, जिससे शील भी निभ गया है जो आजकल की कविता में कभी कभी नहीं भी निभता।

बल० : पर यह केशव की कोई प्रशंसा नहीं हुई, यह तो आजकल की कविता की बुराई हुई बस।

आनन्द : यों ही समझ लीजिए। मैं तो यही कहता हूँ कि आपको कवि को उसके बैकग्राउंड के साथ देखना चाहिए, उससे तोड़कर नहीं। पर आप तो माडर्न

हैं न, आपको माडर्न शास्त्र से सुबूत चाहिए। अच्छी बात है, आपने इलियट तो पढ़ा है न?

बल० : ज़रूर!

आनन्द : इलियट ने कहा है कि कवि को इम्पर्सनल (निर्व्यक्तिक) होना चाहिए; और इस मामले में हमारी आजकल की कविता क्या हिन्दी और क्या उर्दू—बहुत कच्ची है। है न?

बल० : हूँ—

आनन्द : वह निर्व्यक्तिक रूप पाने के दो तरीके हैं, एक तो वही है जो इलियट ने बताया है—कि परम्परा के ज्ञान से, ऐतिहासिक चेतना से, कवि अपने छोटे-से निजू मन को एक बड़े सामूहिक मन में डुबा देना सीखे, कि उसकी सारी संस्कृति, उसका ट्रैडिशन, उसकी कविता में बोले। ठीक?

बल० : हाँ, यह तो समझ में आता है।

आनन्द : दूसरा तरीका यह है कि आदमी अपनी भावनाओं को परम्परा से माने हुए आदर्श पुरुषों की भावना में डुबा दे—ऐसे भी वह आत्म-निवेदन की बुराई से बच सकता है। वैसे देखें तो यह भी तरीका है पहला ही तरीका, क्योंकि परम्परा से माने हुए आदर्श पुरुष भी तो ट्रैडिशन की उपज हैं, और अपनी भावनाएँ उन्हें सौंपने का मतलब है ट्रैडिशन को कविता में लाना; पर इस तरह वह कुछ आसान हो जाता है।

बल० : भाई, बात तो तुम्हारी जी को लगती है। पर इस पर और सोचना ज़रूरी है।

आनन्द : मानता हूँ। हम लोगों के आगे नित नये दृष्टिकोण आ तो जाते हैं, पर जब तक उनके नयेपन के साथ पुराने को पुरानेपन का सम्बन्ध न जुड़ जाय, तब तक वे जम नहीं सकते। जब परम्परा जुड़ जाती है, तभी वे जमते हैं।

बल० : इस पर तो और सोचूँगा। (विचारपूर्ण मुद्रा से) इलियट की बात सोचने लायक होती है।

आनन्द : (हँसकर) होती है न! पर केशव के बारे में और कुछ कहना ज़रूरी है। वैसे यह कहना चाहिए था त्रिपाठी जी को—

त्रिपाठी : भाई, बात यह है कि केशव की कविता मुझे अच्छी तो लगती है, और शास्त्रों के अनुसार मैं उसके गुण भी बता सकता हूँ, पर बलराज तो माडर्न है न, उसे चाहिए माडर्न दलीलें। वे मुझे आती नहीं। तुम पुरानी बात को नया जामा पहनाना खूब जानते हो, तुम्हीं समझाओ।

आनन्द : केशव ने अच्छा भी लिखा है, घटिया भी लिखा है। पर जो कुछ

लिखा है, चमत्कार से भरा हुआ है। बैकग्राउंड में भक्ति की बात तो तुम जानते ही हो, कुछ और बातें भी सोचनी चाहिए। केशवदास के पीछे संस्कृत के पण्डितों की कम से कम तीन पीढ़ियाँ थी। केशव स्वयं संस्कृत के भारी पण्डित थे। इसी पण्डिताऊ परम्परा के कारण उनकी कविता कई जगह बहुत जटिल हो गई, और उन्हीं के पन्थ पर चलनेवाले ही एक कवि ने उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कह डाला, लेकिन उनके पाण्डित्य ने एक दूसरा फल भी दिया जिसकी ओर ध्यान देना जरूरी है।

बल०, त्रिपाठी : (एक साथ) वह क्या ?

आनन्द : केशवदास शेक्सपीयर के समकालीन थे। जैसे एलिज़ाबेथ के ज़माने में अंग्रेजी कविता विकास की एक चोटी पर पहुँच चुकी थी, वैसे ही केशव के ज़माने तक हिन्दी कविता ने भी एक गौरव का स्थान पा लिया था। यानी हिन्दी कविता उस जगह पहुँच गई थी, जहाँ उसे एक शास्त्र की ज़रूरत थी। केशव ने इ का अनुभव किया और उसने पहले-पहल हिन्दी काव्य को एक शास्त्र दिया। आप जानते ही हैं कि उसकी रचनाएँ या तो चरित्र हैं या फिर लक्षण ग्रन्थ—जैसे 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' 'नखशिख', वगैरह। और 'रामचन्द्रिका' भी चरित्-काव्य उतना नहीं है जितना छन्दः शास्त्र का खजाना—उतनी तरह के छन्द शायद और किसी कवि ने नहीं लिखे होंगे।

बल० : कविप्रिया तो उसने प्रवीणराय वेश्या के लिए लिखी थी न ?

आनन्द : चाहे किसी के लिए लिखी हो। पर प्रवीणराय कवि थी, और केशव की शिष्या भी थी। हो सकता है कि उसे काव्य-शास्त्र पढ़ाने के लिए ही केशव ने वह लिखी हो। मतलब की बात यह है कि केशव ने हिन्दी कविता की एक भारी कमी दूर की, और अगर बाद के कवि भी इतना ही गम्भीर ज्ञान रखनेवाले होते, तो हिन्दी की वह दुर्दशा न होती जो रीतिकाल के अन्त में हुई।

त्रिपाठी : पर रीतिकाल में तो सभी कवियों ने रीतिग्रन्थ लिखे हैं ? क्या उनका भी उतना ही महत्व है ?

आनन्द : नहीं। एक तो वे पीछे आये, केशव अग्रदूत थे। दूसरे केशव ने सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण करने का प्रयत्न किया, पीछे के कवि एक छोटे-से दायरे में ही चक्कर काटने लगे। कइयों ने तो अधूरे ज्ञान पर ही पंडिताई छाँटनी शुरू की, जिसका नतीजा यह हुआ कि उनकी कविता उस कुत्ते की तरह हो गई जो अपनी पूँछ का पीछा करता है और फिरकी की तरह चक्कर काटता चलता है।

त्रिपाठी : तो आप देव, बिहारी वगैरह को केशव से छोटा मानेंगे ?

आनन्द : इसका फैसला करने की जरूरत नहीं है। देव, बिहारी, मतिराम, अपने ढंग के बहुत अच्छे कवि थे। मैं सिर्फ़ काव्य-शास्त्र की बात कहता हूँ; और फिर

रीतिकाल में इन तीनों के अलावा और भी तो सैकड़ों कवि थे जिन्होंने केवल लक्षण-ग्रन्थ लिखे ?

त्रिपाठी : पर देव और बिहारी की कविता दिल को बहुत गहरा छूती है। केशव की—

आनन्द : हो सकता है। पर एक बात ज़रूर है। अगर केशव जैसे कवि और आचार्य लक्षणों की जाँच-पड़ताल न करते, और उनके बाद कई अच्छे-अच्छे कवि पर कच्चे पण्डित रीतिग्रन्थों की भरमार न करते तो बिहारी की कविता भी उतनी तासीर न रखती। आप ध्यान से देखें, बिहारी के बहुत-से दोहे इसी लिए असर करते हैं कि वे पहले बनी हुई रूढ़ि से लाभ उठाते हैं। अगर नायिका-भेद पहले चले हुए न होते, तो बिहारी के बहुत-से दोहे पहेलियों से ही दीखते, लेकिन चूँकि रीति बनी हुई थी, और पाठक अपने मन से बहुत कुछ जोड़ सकता है, इसलिए बिहारी के संकेत समझ में आ जाते हैं। बिहारी को एक ट्रैडिशन बना बनाया मिला, केशव ने स्वयं ट्रैडिशन बनाया। अगर बिहारी की फलों की दूकान है जहाँ आपको मेवा तुरत मिलता है, तो केशव वह माली है जिसने पौधे बोये थे।

बल० : (हँसकर) और बाद के कवि मेहतर, जो दूकान उठने पर झाड़ू लगाते हैं ?

आनन्द : चाहो तो मज़ाक कर लो। पर अंग्रेज़ी में भी एलिज़ाबेथ के पीछे रीति ने ज़ोर पकड़ा था। कांग्रीव और वाइचरली की 'कामेडी आफ़ मैनर्स' आपको याद है न ? अगर उनके लिए आप बेन जॉनसन को उत्तरदायी ठहरा सकते हैं, तो आप पिछले रीतिकाल की बुराइयाँ भी केशव के सिर पर थोप सकते हैं।

त्रिपाठी : आपने अच्छा किया जो अँग्रेजी की मिसाल दे दी—अब बलराज आँख मूँदकर मान लेंगे।

आनन्द : बेन जॉनसन के नाम से एक बात याद आई। जानसन दुःखान्त नाटक लिखते रहे, पर अगर व्यंग्य लिखते तो बहुत अच्छे रहते ; उसी तरह केशवदास ने रामचन्द्रिका लिखा और वार्त्तालाप में भी सफल रहे, पर अगर व्यंग्य लिखते तो गजब कर जाते। खेद यही है कि ज़माना अनुकूल नहीं पड़ा, नहीं तो कहीं-कहीं वे काफ़ी चुभती हुई कह गये :

> माखन-सी जीभ मुख-कंज-सी कोमलता में
> काठ-सी कठेठी बात कैसे निकरति है !

वगैरह। और, त्रिपाठीजी, गुस्ताखी माफ़, वह 'ब्राह्मण-जाति अजेय' वाला दोहा भी ज़ोर का है। और मैं तो यह भी कहूँगा कि कहीं-कहीं जहाँ चमत्कार की

कोई तारीफ़ करता है और कोई निन्दा, वहाँ भी असल में केशवदास थोड़ा-सा व्यंग्य जरूर करते रहे होंगे। जैसे—

ऐरी गोरी भोरी तेरी थोरी-थोरी हाँसी मेरी
मोहन की मोहनी की गिरा की गुराई है

इस पंक्ति को कोई तो मिठास से भरी हुई बतायेगा, कोई निरा शब्दाडम्बर कहेगा, पर मुझे तो लगता है कि असल में केशवदास उस गोरी की प्रशंसा करने के साथ-साथ उसे थोड़ा-थोड़ा बना भी रहे थे। क्या राय है, बलराज?

बल० : हूँ!

त्रिपाठी : कहिए, अब मानते हैं आप कि केशव भी कवि थे?

बल० : हाँ, आनन्द की बात में सचाई तो है।

त्रिपाठी : (हँसकर) काठ की कठेठी बात है न, तभी!

आनन्द : पर जीभ माखन-सी नहीं!

चार नाटक*

हिन्दी नाटक की ओर लोगों का ध्यान तब गया जब देश में राजनैतिक जाग्रति के पीछे-पीछे साहित्य का भी नया जागरण हुआ। तब से धीरे-धीरे नाटक आगे बढ़ता गया है। आजकल हिन्दी में नये ढंग के एकांकी नाटक तो काफी लिखे जा रहे हैं, लेकिन कहानी के इस स्थानापन्न को छोड़कर नाटकों की बहुत कमी है। इसका एक कारण तो स्पष्ट ही है — हिन्दी में स्टेज नहीं है, और जो कुछ कभी रहा भी उसे सिनेमा ने चौपट कर दिया। और भी कई कारण हैं जिनकी पड़ताल अभी प्रासंगिक नहीं है।

तो आजकल के हिन्दी नाटक प्रायः सभी एक पुनरुत्थान की भावना से लिखे गये हैं, उद्देश्य उन सबका 'रिवाइवलिस्ट' है। कुछ अपवाद अवश्य हैं, जिनमें अपने समाज की और रूढ़ियों की तीखी आलोचना की गई है। पर अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अगर उनमें घटना की सचाई की थोड़ी बहुत अपेक्षा भी हो जाय, तो भी उनमें दीखने-वाला स्पन्दन होता है अपने इतिहास के ज्ञान का ही ; अपने खोये हुए गौरव की याद और अपनी उलझकर रुक गई-सी संस्कृति की वेदना नाटकों की कथावस्तु के पीछे छिपकर बोलती है।

उपर्युक्त चारों नाटकों के बारे में यह बात सच है। चारों में समानता का एक सूत्र है। चारों अपने देश की संस्कृति की भावना से अनुप्राणित हैं -- एक राष्ट्रीय संस्कृति का अभिमान न्यूनाधिक चारों में झलकता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की—क्या नाटक और क्या कविता, क्या उपन्यास-कहानी और क्या लेख-निबन्ध—एक खास खूबी है यह बढ़ती हुई सांस्कृतिक चेतना, भले ही इन नाटकों में से एक नाटक सोलह साल पहले लिखा गया हो, और एक शायद दस साल पहले। हमारी समझ में यह इस बात का सबूत है कि हमारे साहित्य में जो जाग्रति,—बल्कि जो नवजीवन—दीख रहा है उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं ; और इससे हमें खुशी होनी चाहिए। यूरोप के आलोचक जिस घटती हुई सांस्कृतिक चेतना के कारण चिन्तित हो रहे हैं, उसके बारे में हिन्दी को उतना चिन्तित होने की आवश्यकता अभी नहीं, यद्यपि मशीन युग के साथ साथ समस्या हमारे लिए भी बढ़ती जायगी। अस्तु, अभी तो

---

* महात्मा ईसा	:	पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र'
स्कन्दगुप्त	:	जयशंकर 'प्रसाद'
रेवा	:	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
स्वप्नभंग	:	हरिकृष्ण प्रेमी

हम यही कहेंगे कि टी० एस० इलियट ने जिस ऐतिहासिक चेतना (historical sense) की बात कही है 'the poet must live in what is not merely the present, but the present moment of the past ; be conscious, not of what is dead, but of what is already living.'[1] वह चेतना कम से कम हमारे नाटककारों में काम कर रही है।

यह विशेषता चारों नाटकों में है, यद्यपि 'महात्मा ईसा' और 'स्वप्नभंग' में वह कुछ रूढ़िगत, ऊपर से आरोपित, और इसलिए घटिया ढंग की है, और स्कन्दगुप्त में गहरी और जीवित। लेकिन त्रुटियाँ चारों नाटकों की अपनी-अपनी हैं। और बातों से पहले कुछ इनकी भी जाँच कर लेनी चाहिए।

'महात्मा ईसा' में ईसा के महान् चरित्र की ट्रेजेडी का चित्रण किया गया है। जिन लोगों ने बाइबल पढ़ा है, वे जानते हैं कि ईसा के चरित्र में नाटकीय सामग्री कितनी बहुत और कितनी उपयोगी है। कोई अगर किसी तरह की स्वच्छन्दता न भी बरते, बाइबल की ही कहानी को ज्यों का त्यों ले ले, तो भी उसकी नाटकीय सम्भावनाओं का अन्त नहीं। यूरोप में भी जबसे रूढ़िग्रस्त धर्म का आतंक मिट गया तबसे अनेकों ने ईसा की ट्रेजेडी को साहित्य का विषय बनाया है।

इस दृष्टि से 'उग्रजी' का नाटक निराशाजनक है। ईसा के जीवन के सबसे अधिक नाटकीय संघर्ष के क्षण नाटककार ने नहीं चुने हैं। ईसा का बियाबान में चालीस दिन का व्रत, गेथसिमेनी के उद्यान का चिन्तन, फिर पांटियस पाइलेट का व्यंग्य से पूछना, 'सत्य है क्या!' और हाथ धोकर अपने उत्तरदायित्व से छुट्टी पा लेना ; क्रूस पर टँगे हुए ईसा की अन्तिम मानवीय पुकार, 'जगत्पिता, क्या तूने मुझे छोड़ दिया?' इन सब घटनाओं का नाटक में (प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से) न होना खटकता है। फिर 'उग्र'जी के नाटक की 'शान्ति' से बाइबल की 'मेरी मग्दालीन' के चरित्र में कहीं अधिक नाटकीय तीव्रता आ सकती—जैसा कि मेटरलिंक के नाटक से प्रमाणित होता है। 'शान्ति' का चरित्र बहुत अधिक गीतिमय लगता है, यथार्थ का ओज उसमें नहीं है।

किसी नाटक पर केवल इसलिए आपत्ति नहीं की जा सकती कि नाटककार ने किसी पात्र का नया चित्रण क्यों किया है, उसकी नई मीमांसा क्यों की—जैसा कि 'उग्र'जी ने ईसा पर भारतीयता का आरोप करके किया है। नाटककार इतिहास में से भी घटनाएँ चुनता ही है। उससे यह नहीं पूछा जा सकता कि उसने ऐसा चुनाव क्यों किया; चुनाव तो वह करेगा ही, क्योंकि घटनाओं के सम्बन्ध से उसे वह तनाव, वह संघर्ष उत्पन्न करना है जो नाटक की जान है। लेकिन अगर हम यह देखें कि इस

१—अर्थात् 'कवि जीता है न केवल वर्त्तमान में, बल्कि अतीत के वर्तमान क्षण में; चेतनाशील है उसके प्रति, जो कि मर नहीं गया है वरन् पहले ही से जीवित था।'

चुनाव में उसने उन घटनाओं को छोड़ दिया है जिनसे नाटकीय संघर्ष अधिक तीव्र हो सकता, और संघर्ष की दृष्टि से घटिया घटनाएँ ही पसन्द कीं, तब हमें नाटककार की कुशलता पर, उसकी निर्माण-शक्ति पर, सन्देह होता ही है।

यह बात और भी स्पष्ट तब हो जाती है जब हम देखते हैं कि नाटक में छोटे पात्र तो 'व्यक्ति' न बनकर मध्ययुगीन रूपकों ('moralities') के से 'टाइप' बने ही हैं[१],—पर मुख्य पात्र ईसा के भी व्यक्तित्व का चित्रण पूरा नहीं हुआ ; वे पृथक्, विशिष्ट, अनन्य मानवीय इकाई के रूप में नहीं आ सके ; और नहीं आ सके इसी लिए कि जिन बातों से वह अनन्यता उन्हें मिल सकती ठीक उन्हीं को नाटककार छोड़ गया है। चरित्र की घड़न में तनाव की, तीखेपन की, भव्यता की कमी खटकने लगती है। किसी हद तक इसका कारण नाटक की बातचीत —'डायलॉग'— में ही है, क्योंकि नाटक का असर आखिर शब्दों के द्वारा होता है, और हिब्रू भाषा के मुहावरे हिन्दी में ठीक नहीं जम सके, लेकिन इसके लिए गुञ्जाइश छोड़ कर भी कहना पड़ता है कि शब्दों की लक्षणा-शक्ति का उपयोग 'उग्र'जी ने बहुत कम किया है। 'कम' और 'अधिक' तो सापेक्ष्य शब्द हैं ; महात्मा ईसा के कथोपकथन की तुलना अगर इबसन के 'ब्रांड' के कथोपकथान से की जाय—वहाँ भी बाइबल के मुहावरों से काम लिया गया है—तो अन्तर साफ़ दीखने लगेगा।

'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' में नाटकीय 'यूनिटी' (ऐक्य) की और भी उपेक्षा की गई है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक चेतना 'प्रसाद' की सबसे अधिक सचेत है, जिस युग का चित्र उन्होंने खींचना चाहा है, उसके प्रति सच्चे होने का प्रयत्न भी सबसे अधिक उन्हीं के नाटक में है। इस उद्योग में उन्हें सफलता सर्वत्र नहीं मिली, और नाटक में दिये गये गीतों में उनका कालिदास भी 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' का कालिदास न रहकर उन्नीसवीं सदी का रोमांटिक हो गया है। लेकिन यह होते हुए भी अपनी संस्कृति के विकास के एक विशेष क्षण को पकड़ लेने का प्रयत्न उन्होंने ईमानदारी से किया है, और उसमें उन्हें उन स्थलों पर सफलता मिली है जिन पर औरों को नहीं मिली। जैसे, 'उग्र' के नाटक में ईसा धार्मिक सुधारक न रहकर राजनैतिक सुधारक बन गये हैं और 'राष्ट्र की रक्षा' की बात कहते हैं जब कि सच बात यह है कि 'राष्ट्र' की चेतना उस समय यहूदियों में थी नहीं और वे अपनी अपनी जाति (या जाति-समूह 'Chosen Tribes') की बात ही सोचा करते थे। दूसरी ओर 'प्रसाद' के नाटक में सेनापति पर्णदत्त 'देवता, ब्राह्मण और

१—यथा एलाज़ार, जिसे यह नाम न देकर मध्ययुगीन रूपकों के ढंग पर केवल 'पेटू' या शेखचिल्ली की कहानियों का 'कमखुराक' कह देते तो भी कोई फ़र्क न पड़ता। यह भी वास्तव में चरित्रचित्रण का दोष है।

गौ' की मर्यादा की दुहाई देता है, जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक सच है, क्योंकि उस समय राष्ट्र की नहीं, संस्कृति की चेतना ही प्रधान थी, और संस्कृति के भी उस रूप की, जो धर्म के सहारे चलता है।

'प्रेमी' का 'स्वप्नभंग' मुगलकाल के अन्त का चित्र है। इसका नाटकीय संघर्ष दारा और औरंगजेब के दृष्टिकोणों के भेद से उत्पन्न होता है। दारा संस्कृत है, सभ्य है, रसिक है, औरंगजेब रूखा और कठोर। संस्कृति बल के आगे हार जाती है, जैसा कि वह सर्वत्र हारती है, सपना टूट जाता है। 'स्वप्नभंग' के दोष दो प्रकार के हैं। कुछ तो ऐसे जो स्टेज न होने से और 'पाठ्य नाटक' बनने के कारण आये हैं; कुछ ऐसे जो प्रेमीजी की नाटकों की कथा पर नैतिक आरोप करने की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं—'स्वप्नभंग' का नैतिक उद्देश्य है हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रचार। चित्रण एक नैतिक स्थापना के अधीन है, इस दृष्टि से 'स्वप्नभंग' 'रेवा' और 'स्कन्दगुप्त' से कहीं पीछे है।[1]

नाटकीय दृष्टि से चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार का रेवा सबसे अच्छा है—यद्यपि कई दृश्य उसमें ऐसे हैं जो मंच पर किसी तरह नहीं दिखाये जा सकते—जैसे बीच समुद्र में तूफ़ान का मारा एक जहाज़ बहता चलता है और धीरे-धीरे एक टापू पर आ लगता है, और इस बीच उस पर बराबर नाटकीय घटना की प्रगति जारी रहती है! लेकिन दृश्यों के बीच दृश्यान्तर देखने से जान पड़ता है कि नाटककार ने फ़िल्म का टेकनीक ही ध्यान में रखा है, और इसमें सन्देह नहीं कि फिल्म पर ये दृश्य बड़े प्रभावोत्पादक हो सकते हैं।

यों तो सभी नाटकों में इतिहास की कुछ उपेक्षा की गई है, पर रेवा में ऐतिहासिक वस्तु सबसे कम है और रोचकता सबसे अधिक। उसका कथानक कुशलतापूर्वक घड़ा गया है। उसमें एकता है और उसकी उठान अचूक है। इसी लिए चन्द्रगुप्तजी के नाटक में वह क्रमशः सञ्चित होती हुई शक्ति है जो नाटक का बड़ा गुण है। ट्रेजेडी भारतीय उपज नहीं है, जहाँ की उपज वह है वहाँ के दुःखान्त नाटकों में सब से मार्के की बात है उनकी घटना का सञ्चय (cumulative effect) और विस्फोट। और ग्रीक ट्रेजेडी की भाँति चन्द्रगुप्तजी ने भी नाटक की रचना में एक भविष्यद्वाणी को एक जीते-जागते पात्र जैसा बना दिया है।

चार नाटकों की आलोचना एक साथ करते समय यह पर्याप्त नहीं होता कि चारों का अलग-अलग विवेचन करके छोड़ दिया जाय; कुछ साधारण स्थापनाएँ भी की जा सकती हैं जिनकी ओर संकेत करना उचित होगा।

१—और 'स्वप्नभंग' के गानों की तो चर्चा ही व्यर्थ है; यह रोग सिनेमा में भी है जहाँ घटना की प्रगति केवल इसी लिए रोकी जाती है कि गाना हो जाय; फिर नाटक तो स्टेज पर आते ही नहीं, केवल पढ़े जाते हैं!

नाटकों में कम से कम एक-एक पात्र द्वारा प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया गया है, उसमें एक समानता है। 'ईसा' की 'शान्ति', 'स्कन्दगुप्त' की 'देवसेना', 'रेवा' की 'राजकुमारी'—एक ही जैसे आत्मत्याग—बल्कि आत्म-हनन--से उनकी ट्रेजेडी उत्पन्न हुई है। जब हम देखते हैं कि हिन्दी के प्रायः सभी नाटकों में कम से कम एक स्त्री-पात्र--और प्रायः प्रधान स्त्री पात्र—ऐसा ही होता है, तब प्रश्न उठता है कि क्या सभी नाटककारों में एक ही प्रकार की कुण्ठा काम कर रही है, या कि भारतीय नारी का यही रूप रूढ़ हो गया है, या कि--किन्तु और सम्भावनाओं को छोड़ दें। इस प्रश्न की छानबीन हमारे साहित्य के लिए शायद बहुत उपयोगी हो सकती है।

एक और साधारण स्थापना है, जिसका संकेत ऊपर हो चुका है। सभी नाटक दुःखान्त हैं और उनकी बुनियाद संस्कृतियों के विरोध पर है। एक तरह से इसी बिरोध पर नाटकीय संघर्ष की भीत खड़ी है। सांस्कृतिक चेतना के साथ साथ यह निराशावाद देखकर एक विदेशी आलोचक की बात याद आती है--कि जिस जाति की संस्कृति युगों के बोझ से बोझिल हो रही है उसमें दुःखवाद और निराशा स्वाभाविक हैं। लेकिन क्या हमारी सांस्कृतिक चेतना केवल युगों के बोझ की ही चेतना है? क्या उसमें नये जीवन के स्पन्दन और स्फूर्ति की अनुभूति नहीं है? इसका उत्तर हमें अपने साहित्य में खोजना होगा।

एक भूमिका [1]

युक्तप्रान्त के सन् १९३९ के पुस्तक-प्रकाशन के कुछ आँकड़े देखे थे। यह देखकर चौंक उठा था कि प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाली हिन्दी पुस्तकों में ८० प्रतिशत से ऊपर कविता की पुस्तकें होती हैं! आज जब '—' के कुछ फ़ार्म मेरे पास इस अनुरोध के साथ आये हैं कि मैं भूमिका के रूप में कुछ लिख दूँ, तब वे आँकड़े मुझे याद हो आये हैं।

क्या इनका यह अर्थ है कि हिन्दी भाषी जन-समुदाय एकाएक काव्य-रसिक हो उठा है? या, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अधिकांश काव्य भी गीतिकाव्य है, यह समझा जाय कि हिन्दी भाषियों की संगीत-चेतना सहसा तीव्र हो उठी है?

मैं समझता हूँ कि दोनों ही अनुमान ग़लत हैं। मुझे ऐसा लगता है कि यह अत्यधिक काव्य-रचना आधुनिक जीवन के दबाव से पलायन की चेष्टा का ही परिणाम है। भारत के युवक समुदाय ने यह तो अनुभव किया है कि युग बदल रहा है, यह भी देखा है कि जो मान्यताएँ ध्रुव-सी अटल मानी जा रही थीं वे सहसा सन्दिग्ध हो उठी हैं, पर ऐसे डगमग युग में उसे किस प्रकार, या किस प्रकार के, निर्माण-कार्य में जुट जाना चाहिए, यह वह नहीं समझा है। शायद इधर उसने कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं किया है! आमूल परिवर्त्तन की इस लहर से सहसा हतबुद्धि होकर वह किसी आश्रय की, किसी आड़ की खोज में विह्वल हो उठा है। आज का अधिकांश काव्य-साहित्य ऐसी ही एक आड़ खड़ी कर लेने के लिए बीनी हुई लकड़ियाँ और रंग-बिरंगी चिन्दियाँ हैं।

यह हुई अधिकांश कविता की बात। शेषांश में प्रायः एक दूसरी प्रकार की, पर अन्ततः खोज की ही, वृत्ति काम कर रही है। जहाँ ऐसा हुआ है कि कवि ही कुछ बदल गया है—परिवर्त्तन का कारण चाहे विदेशी शिक्षा रहा हो, चाहे तीव्र जीवनानुभव, चाहे कुछ और—और इस बात के ज्ञान से बिन पानी की मछली-सा हो गया है, वहाँ अपने अनुकूल समाज या वातावरण की खोज ने ही उसे काव्य की प्रेरणा दी है।

यह स्पष्ट है कि 'नये वातावरण से घबराये हुए पुराने कवि' की अपेक्षा 'पुराने

---

१ यह भूमिका एक काव्यग्रन्थ के लिए लिखी गई थी; भूमिका भेजते समय लेखक ने स्वयं कवि से अनुरोध किया था कि उसका उपयोग पुस्तक में न किया जाय; वह अनुरोध मान लिया गया।

वातारण से उद्विग्न नये कवि' से अधिक अच्छी कविता की आशा की जा सकती है। लेकिन ऐसा उद्वेग क्या अनिवार्य-रूप से अच्छा काव्य उत्पन्न करेगा? नहीं। यदि वह उद्वेग कवि में युयुत्सा जगाता है, उसे वातावरण को छिन्न भिन्न करके नया और स्वच्छतर वातावरण लाने की प्रेरणा देता है, तभी वह सुकाव्य का कारण बनेगा; यदि उससे अनिश्चय, घबराहट अथवा पलायन की भावनाएँ जागती हैं, तब उससे उत्पन्न काव्य कितना भी मधुर होकर हेय ही है। किसी अपरिचित को देखकर बच्चा मा के आँचल में मुँह छिपाले, तो इस चेष्टा पर करुणा हो सकती है, पर उससे यह बात नहीं कटती कि ऐसी चेष्टा वयस्क मानव के लिए अशोभन ही है।

आज की अपेक्षाकृत अच्छी कविता भी प्रायः ऐसा ही मुँह पर खींचा हुआ 'मा का आँचल' है। उसके भीतर कवि-बालक तरह-तरह के मधुर स्वप्न देखता है, कल्पना-लोकों की सृष्टि करता है; मातृवक्ष का स्निग्ध और पोषक ताप भी उसकी रचना में छाता है; पर अन्ततः यह सब बाहर के उस विकराल 'कुछ' की अनदेखी करने की ही चेष्टा है!

इन विचारों को पढ़कर आप जान सकेंगे कि यहाँ भूमिका इतनी अप्रासंगिक क्यों हो गई है! मैं स्वयं एक धर्म-संकट से पलायन करने को ललच रहा हूँ! क्योंकि जहाँ मैं देखता हूँ कि '—' की कविताएँ चालू ढंग की दृष्टि से बहुत अच्छी हैं, वहाँ उसमें उस बुनियादी ठोसपन, उस धीर योधावृत्ति की अनुपस्थिति भी खटकती है जो अगर ललकारती नहीं तो मुकाबला ज़रूर करती है। कम से कम मेरे लिए यह पर्याप्त बहलावा नहीं है कि कवि ने 'मेरी एक निराली दुनिया' देख ली जहाँ 'मेरी मेंहदी की लाली में नव वसन्त नित आता'। क्या यह भी एक यत्नपूर्वक खींचा हुआ 'मा का आँचल' नहीं है, यद्यपि उस में 'सुख में सनकर सारी जगती देख रही नव स्वर्ण विहान'?

'जगती की पीड़ा जब आली
अन्तरतम में छाई,
दिल के दरिया की तब धारा
आँसू बनकर आई'

वह आँसू मोती सा चमकता है, लेकिन काश कि कभी 'दिल के दरिया की धारा' भस्म-प्रवाहिनी क्रुद्ध भागीरथी बनकर आती!

पर मैं मानता हूँ, ऐसी माँग करना मेरी संकीर्णता है। जो लोग कविता-कामिनी पर सिद्धान्तों का गट्ठर नहीं लादते, वे '—' पढ़कर तृप्त हो सकेंगे।

दो फूल[1]

उस दिन एक पत्र में समालोचना का स्तम्भ देखते हुए हठात् श्रीमती सत्यवती मलिक की पुस्तक 'दो फूल' की आलोचना पर दृष्टि अटक गई। आलोचना पढ़कर चौंका। "कहानियाँ जीवन की समस्याओं को छूती हुई हैं। मानवी जीवन का संघर्ष और मानवी स्वभाव का उनमें बड़ी सफलता से चित्रण किया गया है। चित्र-चित्रण की यह स्वाभाविकता, मानवी समाज का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही उनकी कला का प्राण है। मालूम होता है एक-एक कहानी सत्यवतीजी ने जीवन की एक-एक समस्या को सुलझाने और चित्रण करने के लिए लिखी है।"

यों शायद इसमें चौंकने की बात नहीं मालूम होती, किन्तु वास्तव में 'दो फूल' में जो गुण आलोचक महाशय बता रहे थे वे या तो उसमें हैं नहीं या बहुत अप्रधान रूप से हैं। एक सुन्दरी का रूप बखानते समय कोई कहे कि इनका हाज़मा बहुत तेज है, तो बेतुकी बात होगी ; कुछ ऐसी ही बात यह है कि 'दो फूल' में मानव जीवन के संघर्ष का चित्रण या जीवन की समस्याओं का सुलझाव है।

'दो फूल' के गुण दूसरे हैं। वह सबसे पहले एक कलावस्तु है, कीट्स की आनन्ददायिनी 'थिंग आफ़ ब्यूटी' है। बल्कि और भी नपी-तुली बात कहें तो 'दो फूल' एक ऐसे व्यक्ति के मनोभावों का प्रतिबिम्ब है जिसकी सौन्दर्यानुभूति (aesthetic sensibility) औसत से काफ़ी ज्यादा है। मानव जीवन के, खासकर नारी-जीवन के, दुख-क्लेश का ज़िक्र पुस्तक में है, किन्तु उनसे लेखिका का सम्बन्ध सौन्दर्य की खोज करनेवाले का ही सम्बन्ध है ; सुधारक का नहीं, दार्शनिक का नहीं, निरे रूखे यथार्थ सत्य की खोज करनेवाले का नहीं।

यही सत्यवतीजी की कहानियों की विशेषता है। और यही उनका प्रधान गुण भी है। क्योंकि सौन्दर्य की अनुभूति तीखी होने के कारण, जिन कहानियों में उन्होंने उस सौन्दर्य की झाँकी पाठक को देने का प्रयत्न किया है उनमें उन्हें बड़ी सफलता मिली है। कहानियों पर कोई यह आपत्ति भले ही करे कि ये तो 'स्केच' हैं, कहानियाँ नहीं, पर यह कोई नहीं कह सकता कि उनमें लेखिका को सिद्धि नहीं मिली है। और आजकल कहानी की परिभाषा इतनी विशद हो गई है कि निरी टेकनीक की कला-बाज़ियाँ तक उसके अन्तर्गत आ जाती हैं, ऐसे सुन्दर स्केचों की तो बात ही क्या। जहाँ उन्होंने तनिक भी वैसा प्रयत्न किया है, जिसकी आलोचक महोदय ने प्रशंसा की

१—दो फूल : सत्यवती मलिक ; हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर।

है, वहीं यह साफ़ झलक गया है कि लेखिका अपने अधिकार के क्षेत्र से परे चली गई हैं। एक ओर उनकी 'नारी-हृदय की साध' या 'भाई-बहिन' जैसी चीजें हैं जिनके बारे में न्यायपूर्वक कहा जा सकता है कि ये हिन्दी में बिल्कुल अनूठी चीज़ें हैं; दूसरी तरफ़ 'बेकारी में' या 'उलझन' जैसी चीज़ें हैं जो साफ़-सुथरी तो हैं और काम-चलाऊ सफलता भी पा लेती हैं, पर मानों अपने विषय को पकड़ नहीं पातीं; जिस समस्या को छूने का प्रयत्न करती हैं उसे जैसे गिरफ्त में नहीं कर पातीं।

किन्तु 'दो फूल' में एक तीसरे ढंग की कहानियाँ भी हैं। 'डायरी से' या 'श्यामा' नाम की कहानियों में हम देखते हैं कि सौन्दर्य की तीखी अनुभूति रखने-वाली प्रतिभा ऊपरी सौन्दर्य से आगे बढ़कर मानवीय चेतना के कुछ अधिक घने और धूप-छाँह भरे प्रदेशों में भी झाँकने की चेष्टा कर रही है। लेकिन यह ध्यान रहे कि यह चेष्टा यथार्थवादी का मर्म भेदकर सचाई की छान-बीन करने की चेष्टा नहीं है। यह सौन्दर्य को ही अधिक पूरी तरह देखने की कोशिश है। जिस तरह फ़ोटो लेते समय उजाले-अँधेरे के झलमले से स्निग्धता लाई जाती है, उसी तरह कहानी के नये और पूर्णतर सौन्दर्य के लिए ही 'दो फूल' की कहानियाँ दुःख-सुख के गहरे-हलके रंगों को मिलाती हैं। 'श्यामा' या इस ढंग की एक-दो और कहानियों में जिस तरह की नारी का चित्र खींचा गया है, उसका वर्णन न्यूनाधिक सफलता के साथ इधर की प्रायः हर हिन्दी लेखिका ने किया है। कुछ ने निरी भावुकता के साथ, कुछ ने सूक्ष्म अनुभूति के साथ, कुछ ने रोमांटिक गर्जन-तर्जन और आक्रोश के साथ—शायद ही किसी ने ज़ोरदार यथार्थवादी ढंग अपनाया हो। ठीक ऐसी ही स्थिति अंग्रेजी में भी तब आई थी जब पहले-पहल अंग्रेज़ी लेखिकाओं ने उस नज़ाकत के पुतले की ओर, जिसे तब तक की रूढ़ि 'नारी' नाम से पुकारती थी, कौतूहल के साथ देखना शुरू किया था। कौतूहल के बाद जिज्ञासा आई, फिर आलोचना। हमें भी आशा करनी चाहिए कि पीढ़ियों से चली आई धारणाओं के प्रति बढ़ती हुई परीक्षण-बुद्धि से हमारे यहाँ भी यह परिवर्त्तन आयेगा।

अभी तो यही कहा जा सकता है कि हिन्दी लेखिकाओं की रचनाएँ प्रायः सुन्दर हैं, पर तेजस्वी नहीं हैं। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि स्त्री-लेखकों की रच-नाओं की सफलता भी और कमजोरी भी यह है कि वह प्रायः अपने घरेलू जीवन की ही स्मृतियाँ होती हैं। इसी से उनमें सचाई भी आती है, पर इसी से वह धुँधली-सी, मीठी-मीठी, नशीली उदासी भी उनमें प्रायः झलकती है। ऐसी रचनाएँ, जिनमें 'दो फूल' को भी गिना जा सकता है, प्रायः नये मध्यवर्ग से निकलती हैं जिसमें लेखिकाओं के दो जीवन होते हैं—एक घर के भीतर जो आनन्द का नहीं तो कम से कम सुविधा का जरूर होता है, ऐश नहीं तो आराम से ज़रूर बीतता है; और

दूसरा वह जो ऐसे घर से सम्बन्ध रखनेवाले रसोइया-कहार, धोबी-मोची, सईस-कोचवान वगैरह के मारफ़त घर के आस-पास गिलाफ़-सा घिरा रहता है। कुछ लेखिकाएँ घर ही में रहती हैं, कुछ अधिक अनुभूति-समर्थ होकर गिलाफ़ को भी देखती हैं और टटोलकर उसकी बुनती का खुरदुरापन भी जान लेती हैं। कुछ आगे बढ़कर उनसे सहानुभूति के बोध से पैदा होनेवाली मिठास—सौन्दर्य—में सन्तोष कर लेती हैं। 'दो फूल' की लेखिका इस अन्तिम श्रेणी में है, और इससे आगे बढ़ने की आशा शायद अभी की भी नहीं जा सकती। पर हमें उद्योग करना चाहिए उस अवस्था के लिए जिसमें सहानुभूति सन्तोष देनेवाली न होकर प्रेरणा देनेवाली हो। आगे का मार्ग वही है।

आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा *

पिछली पीढ़ी के आरंभ में कविता के क्षेत्र में एक शब्द नये आविष्कार के उत्साह के साथ आया था। कुछ एक वर्षों तक क्रमशः उन्नति के पथ पर चलता हुआ यह शब्द एक चरम उत्कर्ष की अवस्था तक पहुँचा, लेकिन इस पीढ़ी के आरंभ में अचानक ही उस शब्द का मान घटने लगा, और गिरते-गिरते यहाँ तक नौबत आ गई कि वह एक शिष्ट गाली समझा जाने लगा। वह शब्द था 'छायावाद'। पिछले दो-एक वर्षों में छायावाद की अवहेलना सहसा घनी होकर विरोध के रूप में प्रकट होने लगी है, और आये दिन छायावादियों की भर्त्सना होती रहती है।

इस परिस्थिति में श्रीमती महादेवी वर्मा के नये काव्य-संग्रह का प्रकाशन अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। इस संग्रह की कविताएँ नई नहीं हैं, किन्तु उनका संकलन नया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों की संग्रहीत रचनाएँ प्रकाशित करने की योजना की है; इसी आयोजन के अन्तर्गत यह पहला संग्रह है। इसमें महादेवीजी ने अपनी प्रकाशित रचनाओं में से स्वयं ७५ कविताएँ चुन दी हैं जो उनकी दृष्टि से सर्वोत्तम हैं। एक लम्बी भूमिका में उन्होंने काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार भी प्रकट किये हैं, और आधुनिक कविता के साथ अपनी कविता के सम्बन्ध या असम्बन्ध का भी विवेचन किया है।

इस विषय में विवाद हो सकता है कि जो रचनाएँ संग्रह में रखी गई हैं वास्तव में वही कवि की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं या नहीं। मैं ही क्यों न कहूँ कि बिना पुराने संग्रहों के साथ मिलाकर देखे भी मैंने अनुभव किया कि मेरी कुछ एक अत्यन्त प्रिय कविताएँ इस संग्रह में नहीं हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में विवाद कुछ विशेष फलप्रद हो सकता है, ऐसा नहीं जान पड़ता। अगर कवि को यह अधिकार है कि वह लिखने के बाद कुछ कविताएँ न भी छपाये, तब हमें उसका यह अधिकार स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वह प्रकाशन के बाद भी कुछ कविताओं को महत्त्व दे और कुछ की अनदेखी कर जाये। यदि निर्वाचन से हमारा मतभेद हो तो अधिक से अधिक रुचि-वैचित्र्य ही समझ लिया जा सकता है। चुनी हुई कविताएँ अगर घटिया हों, तब अवश्य आलोचक को कुछ कथनीय हो सकता है, और इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह के सम्बन्ध में विशेष कुछ कथनीय नहीं जान पड़ता। महादेवीजी उच्चकोटि की कवि और कलाकार हैं। इस परिचित सत्य को इस संग्रह की कवि-

* आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा; प्रकाशक, हिन्दी साहित्य, सम्मेलन, प्रयाग।

ताएँ प्रमाणित करती हैं। कोमल और बहुधा करुण भाव-धारा, सुघर संयत शब्दावली, मँजी हुई शैली, और असाधारण लयमयता महादेवीजी की कविता के सब गुण इस संग्रह में झलकते हैं। अपनी कविता की चर्चा करते समय महादेवीजी ने स्वयं एकाधिक बार बुद्ध अथवा मीराबाई अथवा रहस्यवादियों का नाम लिया है; उनकी कविता में करुणा है, किन्तु बुद्ध की-सी व्यापक करुणा नहीं ; आत्मनिवेदन है, किन्तु मीराबाई जैसी निरपेक्ष तन्मय आत्मविस्मृति नहीं ; असीम की खोज और हल्का स्पर्शानुभव है, चिन्तन है, किन्तु रहस्यवादियों का अटपटा, अनगढ़ तेजस्वी, दार्शनिक असंतोष नहीं। मीराबाई की व्याकुलता इतनी व्यक्तिगत है कि कला की निर्व्यक्तिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती। रहस्यवादी कबीर का दार्शनिक असंतोष बहुधा उसके पहले ही से अनमिल छन्दों को नीरस बना देता है। महादेवीजी की कविता चिर-कलामय है, सदा रसमय है। यह कलाकार की विजय है ; व्यक्ति की आलोचना में अवश्य प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीवन-प्रवाह सदा और सर्वत्र इतना सीधा और स्निग्ध हो सकता है, क्या नदी नहर के पाट में बह सकती है ?

प्रस्तुत संग्रह में विशेष ध्यान देने की बात है उसकी भूमिका। यों तो किसी भी कवि का आत्म-विवेचन अथवा अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण माननीय होता है, किन्तु इस संग्रह की भूमिका का विशेष महत्त्व इसलिए है कि महादेवीजी ने प्रायः अपनी कविताओं के स्पष्टीकरण अथवा अपनी विचारशैली के मंडन का वह प्रयत्न नहीं किया है जो कि आजकल का फैशन है और जिसे प्रगतिवादी इतनी प्रगल्भता के साथ करते हैं। पद्य की तरह गद्यशैली पर भी असाधारण अधिकार रखते हुए भी यह शायद पहला अवसर है कि महादेवीजी ने स्वयं अपने काव्य के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण जनसाधारण के सामने उपस्थित किया है। उनका दृष्टिकोण वस्तुतः छायावाद का स्पष्टीकरण और अनुमोदन है, अतः उनकी तर्क-प्रणाली का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा।

वस्तु का मूल्य दुहरा होता है। एक का निरूपण उसकी स्थूल उपयोगिता से होता है (utility), दूसरे का उसकी सूक्ष्म भाव-प्रेरणा से (aesthetie value)। दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक, जीवन को केवल बुद्धिपक्ष से देखता है, इसलिए उसका चिन्तन एकांगी होता है, और उसके द्वारा अंकित जीवन का चित्र अपूर्ण। उसका जीवन के साथ रागात्मक सम्बन्ध नहीं होता। सम्पूर्णता और सामंजस्य साहित्य में ही सम्भव है। कविता मानों जीवन का वातायन है। जिस तरह कक्ष के बँधे वायुमण्डल को झरोखा बाहर के मुक्त आकाश से मिलाता है, उसी प्रकार कविता हमारे 'व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है'। (दूसरे शब्दों में महादेवीजी काव्य के उसी गुण की ओर संकेत कर

रही हैं जिसे आधुनिक आलोचक निर्व्यक्तीकरण कहता है—व्यक्तिगत अनुभूति को समष्टिगत अनुभूति के साँचे में ढालना।) इतिहास की दृष्टि से देखें, तो कविता बार-बार चार सीढ़ियों के अनुक्रम में से बीतती रहती है। पहले स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, फिर सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, फिर चिन्तन का अत्यधिक प्रसार, और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ। हिन्दी काव्य-परम्परा में वीरगाथा-काल, भक्ति-काल और रीति-काल का अनुक्रम इसका प्रमाण है। आधुनिक काव्य में इसी क्रम की आवृत्ति फिर से हो रही है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया में खड़ी बोली की कविता स्पष्टतया इतिवृत्तात्मक थी, और यह लहर इतनी फैली कि मनुष्य की कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं। सूक्ष्म का यह विद्रोह ही छायावाद का उद्गम है। अपनी आवश्यकता के अनुसार छायावादी कवि ने खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता को माँजकर तथा अनेक शब्द नये गढ़कर एक नई, कोमलतर, भावना-बहुल भाषा का निर्माण किया। छायावाद ने बुद्धि और भावना दोनों का उपयोग करके जीवन में सामंजस्य का मार्ग ढूँढ़ निकाला। छायावाद सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह है, न कि यथार्थ के प्रति।

छायवाद की ऐतिहासिक पृष्टभूमि के इस निरूपण से शायद ही किसी का मतभेद होगा, किन्तु इससे आगे जहाँ महादेवीजी आधुनिक मानों के आधार पर छायावाद का मूल्यांकन करती हैं, वहाँ मतभेद अनिवार्य जान पड़ता है। यह ठीक है कि जिस प्रकार अध्यात्म रुढ़ियों में पड़कर गतिरोधक और विनाशक हो सकता है और अतीत काल में हुआ है, उसी प्रकार विज्ञान भी एकांगी होकर घातक हो सकता है। यह भी ठीक है कि विज्ञान जीवन को बुद्धि की कसौटी पर परखता है, भावना की नहीं। यह भी मानने में किसी को आपत्ति न होगी कि विज्ञान का आधुनिक झुकाव विश्लेषणात्मक है, और विश्लेषण से जीवन का अखंड रूप नहीं दीखता, खण्ड ही दीखते हैं। किन्तु यह सब मान लेने पर भो इनकी अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि विज्ञान मार्ग-रोधक ही हो। विश्लेषण विज्ञान का एक पहलू है। आज के अधिकांश वैज्ञानिक विज्ञान और दर्शन के समन्वय पर ज़ोर दे रहे हैं। बुद्धिवादी भावना को अस्वीकार नहीं करता ; वह मानता है कि भावना भी अनिवार्य है। उसका आग्रह केवल इतना है कि भावना को आत्यन्तिक न मानकर उसका, और उसे उत्पन्न करनेवाली स्थूल परिस्थिति का, सम्बन्ध न भुलाया जाय। यह कहना ठीक नहीं है कि इस अन्वेषण से रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती ; बल्कि यह भी सोचना चाहिए कि सूक्ष्म और स्थूल के सम्बन्ध के ऐसे अन्वेषण के बिना वह निर्व्यक्तीकरण (depersonalisation) हो कैसे सकता है, जिसकी आवश्यकता महादेवीजी ने भी स्वीकार की है। व्यक्तिगत अनुभूति को समष्टिगत अथवा जातिगत अनुभव पर परखने का यह अन्यतम नहीं, उत्तम साधन है। इसकी उपेक्षा के कारण

ही छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करके भी अधूरा रह गया। उसने रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा तो एक काल्पनिक सौन्दर्य-लोक के साथ। यहाँ पर स्वयं महादेवीजी का एक काव्य उद्धृत करना ठीक होगा—यद्यपि हम मानेंगे कि हम उसे प्रकरण से उखाड़कर ही ले रहे हैं। 'छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है।'

'पलायन' का समर्थन भी एक भ्रान्ति पर आश्रित जान पड़ता है। प्रतिक्रिया अथवा क्षतिपूरण (compensation), और पलायन (escape) में जो सूक्ष्म किन्तु मौलिक मनोवैज्ञानिक अन्तर है, उसे ध्यान में रखा जाता, तो कुछ अनावश्यक बातें भूमिका में न आतीं।

आधुनिक काव्य की विभिन्न धाराओं का विवेचन करते समय महादेवीजी ने प्रगतिवाद की कविता के और भारतीय राष्ट्रीयवाद के बारे में जो विचार प्रकट किये हैं, वे विशेष मननीय हैं। 'आदर्शवाद की विरोध-भावना से उत्पन्न' प्रगतिवादी कला की मौलिक त्रुटियों का विवेचन बहुत मार्मिक है, यद्यपि बुद्धिवाद के सम्बन्ध में जिस भ्रान्तधारणा का उल्लेख मैंने अभी किया उससे वह भी अंशतः दूषित है। अर्थात् जो त्रुटियाँ प्रगतिवाद की आधुनिक धारा में हैं, वे अनिवार्यतः प्रगतिशीलता में होंगी ही, ऐसा नहीं है।

'कवि जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर जीवन में घुलमिल जाये', यह परामर्श शुभ है। सम्भव है ऐसा करने से बहुत-से कवि कविता छोड़ दें, और यह कवि और कविता दोनों के लिए शुभ हो। यद्यपि जब महादेवीजी कहती हैं कि उनकी कविता 'उनके विश्राम के क्षणों का ही प्रतिबिम्ब' है, और 'शेष जीवन वे वहाँ देंगी, जहाँ उसे देने की आवश्यकता है', तब उनकी स्पष्टवादिता का आदर करते हुए भी आलोचक एक संशय से भर उठता है कि क्या ऐसी कविता में जीवन का वह सम्पूर्ण सामंजस्य मिल सकता है?

'—वागर्थप्रतिपत्तये'

कविता ही कवि का परम वक्तव्य है ; अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए। किन्तु मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ उसकी जटिलता इतनी बढ़ी है कि इस प्रकार का आत्म-स्पष्टीकरण वाञ्छनीय हो गया है। क्यों ? इसका कारण है।

कवि का काव्य ही उसकी आत्मा का सत्य है। (यह एक गोल-सी बात है, अतः इसके सत्य होने की सम्भावना काफी है !) यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक-सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।

और आज इसी की सम्भावना अधिक है कि कवि इन बीच के स्तरों में से किसी एक पर हो। 'व्यापकता' वैसे भी सापेक्ष्य है ; जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के परिणाम-स्वरूप 'व्यापकता' का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है।

एक समय था जब कि काव्य एक छोटे-से समाज की थाती था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अतः उनकी विचार-संयोजनाओं के सूत्र भी बहुत-कुछ मिलते जुलते थे—कोई एक शब्द उनके मन में प्रायः समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता था। इसका एक संकेत इसी बात में मिलता है कि आचार्यों ने काव्य-विषय का वर्गीकरण सम्भव पाया, और कवि को मार्गदर्शन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसंग में अमुक-अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी ! आज वह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन-परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है ; एक हो सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार-संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों।

यह आज के कवि की सबसे बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनःसंस्कार की, आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कविकर्म की ही मौलिक समस्या है,

साधारणीकरण और निवेदन (communication) की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है,—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है, या कुछ भिन्न पाता है।

प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली—जहाँ वह पाठक के विचार-संयोजक-सूत्रों को नहीं छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया, या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत-से लोग इस बात को भूल गये कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा को क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सार-गर्भित अर्थ भरना चाहता है—और अहंकार के कारण नहीं, इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माँग स्पन्दित है—इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बहकर आते हुए लावा से ही भरकर और जमकर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है।

जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोग-शीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है, इत्यादि।

× × ×

क्या मैं 'स्वान्तःसुखाय' लिखता हूँ ?

कोई भी कवि केवल-मात्र 'स्वान्तःसुखाय' लिखता है, या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अहं

मुझ में भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है; पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने-आप में सम्पूर्ण है ? अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किस पर अभिव्यक्ति ? इसी लिए अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और इसके परिणाम-स्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा। अभिव्यक्ति भी सामाजिक वा असामाजिक वृत्तियों की हो सकती है, और आलोचक उसका मूल्यांकन करते समय ये सब बातें सोच सकता है, किन्तु वे बाद की बातें हैं। ऊपर प्रयोग-शीलता को प्रेरित करनेवाली जो अनिवार्यता बताई गई है, अभी तो उसकी सीमाओं की ओर संकेत करना चाहता हूँ। ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नहीं है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' के धर्म को भूलकर चलता है। जिन्हें बाल की खाल निकालने में रुचि हो, वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो—क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अंश दूसरे अंश के लिए लिखे ? अहं का ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो सकता है ; किन्तु यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसी के प्रति है और किसी की ग्राहक (या आलोचक) बुद्धि के आगे उत्तरदायी है। जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) लिख रहा है, और जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) सुख पा रहा है, वे हैं फिर भी पृथक्। भाषा उनके व्यवहार का माध्यम है, और उसकी माध्यमिकता इसी में है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करनेवाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक', अथक दीक्षा द्वारा गम्य (esoteric) हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है ; धर्म नहीं, आपद्धर्म है।